द्वितीय अध्याय

चेतना का रूप–स्वरूप

चेतना शब्द चित्संज्ञाने धातु से निष्पन्न होता है। अंग्रेजी भाषा में इसे Consciousness कहते है। इसके विविध अर्थ हैं – चैतन्य, वेदन, अनुभव, अन्तः संज्ञा, बोध, अन्तर्बोध, ज्ञान, चित्ताभोग, मनस्कार, अहंकार, चिदात्मक, प्रमा (Internal Consciousness) अन्तश्चैतन्य (Consciousness of pleasure) सुखानुभव, सुख–वेदन आदि[1]

मानव को सुख–दुःखादि की अनुभूति चेतना के ही कारण होती है। वस्तुतः चेतना; मानव–मस्तिष्क में प्रवहमान वह शक्ति हैं जो मनुष्य को निरन्तर चैतन्य प्रदान करती है। चेतना ज्ञानात्मक, भावात्मक एवं क्रियात्मक त्रिविध स्वरूपा है। चेतना का गति नामक गुण ही उसमें परिवर्तन का कारण होता है। चेतना के अभाव में गतिविहीनता दिखाई देती हैं। मनोविज्ञान, धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म के क्षेत्र में चेतना की विविध परिभाषाएं दी जाती रहीं है। मनोविज्ञान में चेतना का प्रयोग मन के संदर्भ में किया जाता है। चेतना मन की ही एक विशेषता है। दर्शन या अध्यात्म के क्षेत्र में 'आत्मबोध' ही चेतना है। साहित्य एवं दर्शन में चेतना के लिए चैतन्य शब्द का प्रयोग हुआ है। दर्शन में परम चेतन तत्त्व के सत–चित्–आनन्द स्वरूप का कथन है किन्तु वह सच्चिदानन्द प्रकाश रूप भी है।

सत–चित–आनन्द यह गुन भारी।
और चौथे परकाश अपारी।।[2]

वैदिक तथा अवैदिक धर्म संहिताओं में सदाचार तथा आत्म–चेतना पर बल दिया गया है। वेदों और उपनिषदों में चेतन–शक्ति–विज्ञान का वर्णन है किन्तु वह वर्णन अव्याकृत ब्रह्म या सुन्न देश की चेतना तक ही सीमित है।[3]

सन्त कवियों में सर्वप्रथम कबीर साहब ने अगम लोक तक की चेतना और उसके आगे राधास्वामी धाम का संकेत रूप में कथन निम्न छन्द में किया है –

कबीर धारा अगम की सतगुरु दई लखाय।
उलटि ताहि सुमिरन करो स्वामी संग मिलाय।।

सन्त गुरुनानक देव, संत तुलसी साहब, पलटू साहब आदि ने सतलोक तक की चेतन शक्ति का बहुविध गुणगान किया है। चेतना के रूप–स्वरूप के स्पष्टीकरण

हेतु सृष्टि पूर्व में चेतना, अव्यक्त चेतना, चेतना का रूपान्तरण, देह रूप में चेतना, चेतना प्राप्ति के साधन यथा श्रद्धा – भक्ति – पूजा, आरती, आसन, योग, ध्यान–भजन आदि क्रियाएं तथा अन्त में; साध्य स्वरूप चेतना के परम भण्डार या चेतना के सागर में लय आदि विषयों का ज्ञान अपेक्षित है। अनुराग सागर में प्रायः ये सभी विषय वर्णित हैं। श्रीमद् भागवत पुराण में नवधा भक्ति के रूप में श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म निवेदन; ये आत्मचैतन्य को जाग्रत करने के सगुणोपासना स्वरूप नौ उपाय या साधन कहे गये हैं।

वेदोपनिषद् एवं सन्त मत में ज्ञान मार्ग या निर्गुण भक्ति का कथन है। भारत में चौदहवीं शताब्दी तक भक्ति के सगुण तथा निर्गुण दो रूप हो चुके थे। सगुण भक्ति राम और कृष्ण भक्ति के रूप में पनपी तथा निर्गुण भक्ति के ज्ञानाश्रयी और प्रेमाश्रयी में दो रूप हो गये। निर्गुण भक्ति के ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि सन्त कहलाये जैसे कबीरदास, रैदास, गुरुनानक देव आदि। कबीर का मत संत मत कहलाया। निर्गुण भक्ति की प्रेमाश्रयी शाखा के कवि सूफी सन्त कहलाये।

अनुराग सागर में चेतना प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम सद्गुरु की आवश्यकता पर बल दिया गया है। गुरु के बिना यह ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। कबीर साहब ने चौका, आरती, नामदान आदि क्रियाओं को जगत् से नाता तुड़वाने (तिनका तुड़वाने) के लिये आवश्यक माना। अनुसागर के विविध प्रसंगों के अनुसार सद्गुरु ही भक्त की चेतना को जाग्रत कर चेतना के सागर में लय कराने की सामर्थ्य से सम्पन्न हैं। यह अकेले जीव की सामर्थ्य के वश की बात नहीं है।

चेतना के स्वरूप ज्ञान के लिए विविध तथ्यों का उल्लेख इस पुस्तक में विविध स्थलों पर हुआ है जैसे – सृष्टि पूर्व में चेतना, सृष्टि रचना एवं विविध योनियों में चेतना तथा निज (कबीर) चेतना का जीवोद्धार हेतु चार युगों में चार रूपों में अवतरित होना आदि वर्णित है। अन्त में चेतना प्राप्ति के साधन, सद्गुरु माहात्म्य, भक्त की श्रद्धा एवं प्रेम, नाम रूप चेतना, प्रकाश तथा शब्द रूप चेतना तथा जीव का परम चेतना में लय आदि विषय वर्णित हैं।

इस अध्याय के दो उपभागों – धर्म एवं चेतना का अन्तः सम्बन्ध तथा अनुराग सागर में निज चेतना द्वारा चेतना के स्वरूप के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया है।

(क) धर्म एवं चेतना – अन्तः सम्बन्ध

धर्म एक सर्वोपरि चैतन्य निर्देश है। धर्म में ही मानव मंगल और आत्महित का सार निहित है। त्रिकालज्ञ ऋषि, महात्मा, योगी, पैगम्बर एवं महान् सन्तों ने जिस दिव्य, चैतन्य एवं अनुदाहरणीय वस्तु अथवा तत्त्व का कथन किया वही सत्य है, वही धर्म है, वही सर्वतोभावेन श्रेयस्कर तत्त्व मानवता के लिए आचरणीय वन्दनीय, नमनीय एवं रक्षणीय है।

हमारे धर्म ग्रन्थ भारतीय संस्कृति की आस्थाओं एवं विश्वासों के मूल आधार तथा असंदिग्ध एवं अपरिहार्य प्रमाण हैं। विश्व के सभी धर्मों का सार है – मानव–मंगल एवं आत्माभ्युदय अथवा आत्मचेतना की जागृति एवं निःश्रेयस् प्राप्ति। भारतीय संस्कृति अध्यात्ममूलक है तथा पुरुषार्थ चतुष्टय की धारणा भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

'पुरिशेते इति पुरुषः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शरीर में विद्यमान चैतन्यांश जीव को पुरुष कहते हैं। उपर्युक्त व्युत्पत्ति में 'पुरुष' शब्द का यौगिक अर्थ जीव मात्र है किन्तु पुरंपुरुषमात्मवान्[4] आदि प्रसंगों में योग रुढ़ि अर्थ में पुरुष शब्द मनुष्यवाची है। पुरुष के अभिलषित पदार्थ को, पुरुष का अर्थ या प्रयोजन कहते हैं। प्रायः सभी धर्म ग्रन्थों में पुरुष के अभिलषित पदार्थ धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार ही हैं। अतः इन्हीं को चार पुरुषार्थ या पुरुषार्थ चतुष्टय कहते हैं।

पुरुषार्थ में, पुरुष सुख प्राप्ति हेतु प्रवृत्त होता है। जीव को सुख ही अभीष्ट है। विषयसुख और आत्मसुख के रूप में यह सुख भी दो प्रकार का होता है। ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मोन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क होने से जो सुख (दुःख मिश्रित सुख) प्राप्त होता है वह विषयसुख अथवा विषयानन्द है तथा सांसारिक भोग विलासों एवं विषय वासनाओं से रहित होकर जीव आत्मा का निज चैतन्य स्वरुप में लय आत्मसुख या ब्रहमानन्द है। जीव आत्मामिभानानुसार ही पुरुषार्थ का चयन करता है।

उपर्युक्त वर्णित पुरुषार्थ चतुष्टय में से कोई अर्थ को चाहते हैं कोई काम को और कोई धर्म को अथवा कोई धर्म–अर्थ–काम तीनों को। वस्तुतः त्रिवर्ग प्रायः प्रत्येक का अभिलषित होता है क्योंकि समस्त सांसारिक व्यवहारों का समाधान त्रिवर्ग में ही है। त्रिवर्ग को इसीलिये अभ्युदय (अभितः उदय) कहते हैं। इस त्रिवर्ग में 'अर्थ'

पुरुषार्थ धर्म तथा काम के मध्य में **'देहली दीपक न्याय'** से स्थित है। देहली पर रखा दीपक जिस प्रकार कक्ष के अन्दर तथा कक्ष के बाहर प्रकाश करता है उसी प्रकार अर्थ पुरुषार्थ धर्म तथा काम के लिये उपयोगी है।

त्रिवर्ग का विधिवत् उपार्जन होने पर पुरुष अन्तिम पुरुषार्थ (मोक्ष) को अनायास ही प्राप्त कर लेता है अर्थात् धर्म में फलासक्ति, अर्थ में निगूहन या संचय तथा काम में वासना का अभाव आवश्यक है। यही है – सार अभ्युदय का। इस रीति से निर्मल–निर्दोष त्रिवर्ग के अनुष्ठान से चतुर्थ पुरुषार्थ भगवत् प्राप्ति अथवा अपने परम चैतन्य भण्डार में लय (निःश्रेयस्) अनायास ही हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम यह त्रिवर्ग उपाय (साधन) हैं और चतुर्थ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष (चैतन्य अंश जीव का परम चैतन्य भण्डार में लय यथा बिन्दु का सिन्धु में) उपेय (साध्य) है। उपाय या साधन का यथावत् अनुष्ठान होने से उपेय या साध्य स्वयं ही प्राप्त हो जाता है।

यहाँ एक बात और विचारणीय हैं कि धर्म, अर्थ, काम इनमें से किसी एक का अधिक अनुष्ठान होने से वह स्वयं तथा इतर दोनों पुरुषार्थों को भी बाधा पहुँचाने लगता है अतः कौटिल्य का कथन है कि इन तीनों में से किसी का इतना अधिक सेवन नहीं करना चाहिये जिससे इन तीनों में परस्पर बाधा पड़े –

एको हि अत्यासेवितो ह्येषाम् आत्मानमितरौ च पीडयति।

श्रीमद् भगवद् गीता में धर्मानुकूल काम को साक्षाद् भगवद्विभूति विशेष ही माना है – **धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेऽस्मिन् भरतर्षभ।** अर्थ और काम पुरुषार्थ लोकोपकारी, जीवन निर्वाह के साधक और निखिल मानवों के अभीष्ट हैं, इसलिये वर्जनीय पदार्थ नहीं हैं, बल्कि वे धर्म से अविरुद्ध होकर ही अभ्यर्थित होते हैं। अतः धर्म–अर्थ–काम के परस्पर उपकारी होने के कारण उनका संतुलित आचरण होना चाहिये अतः व्यास का कथन है।

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः।

तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे।।

अंग्रेजी में धर्म शब्द का रूपान्तर Religion है जो लेटिन भाषा के Religare से निर्मित है (Re = Again, Ligare = to tie back) का भाव यही है कि आत्मा जो अपने

परम चेतन भण्डार से जगत् में आकर पृथक् हो गई है, उसका धर्म के द्वारा पुनः अपने चेतन भण्डार से जुड़ना।

परम चेतना के भण्डार परमात्मा का अंश; मानव इस संसार में धर्म को आधार बनाकर सांसारिक व्यवहारों में संलग्न होता हुआ उच्चतम गति को प्राप्त होता है। वस्तुतः मानव जीवन की गतिविधियों एवं प्रगति में धर्म का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इतिहास साक्षी है कि समय–समय पर विभिन्न देशों में विभिन्न धर्म अवतरित हुए। ऋषि, मुनि, पीर, पैगम्बर साधु और संत–महात्मा मानवमात्र के निमित्त धर्म के सिद्धान्तों का कथन करते हुए उनकी आत्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते रहे। पथप्रदर्शक धर्मोपदेष्टाओं के अभाव में उनके अनुयायियों ने धर्म के मूल को विस्मृत करते हुए उसे पारस्परिक रागद्वेष आदि का कारण बना दिया है। वस्तुतः सभी धर्मों के मूल में एक ही चेतना या चेतनाकारक तत्त्व विद्यमान है। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध एवं संतमत सभी धर्म एक अपार अनन्त एवं विभु चेतना के विविध रूप हैं। वस्तुतः मानव की अन्तश्चेतना का अभ्युत्थान अत्यन्त आवश्यक है जो धर्म द्वारा ही सम्भव है। अतः धर्म एवं चेतना दोनों पक्षों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। प्रथम धर्म को प्रस्तुत करते हैं।

धर्म शब्द संस्कृत की धृ धातु को मन् प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। इसके अनुसार जो तत्त्व प्राणियों को धारण, पालन–पोषण करता हुआ उन्हें सुख–शान्ति से युक्त करता हुआ अवलम्बन देता है, उसे धर्म कहते है। चाणक्य का कथन हैं – "धर्मेण धार्यते लोकः" अर्थात् धर्म से ही लोक या संसार को धारण किया जा सकता है। वस्तुतः धर्म में ही समाज को धारण करने की शक्ति है तथा समाज के लिए भी यह धारण करने योग्य है।

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।

यस्माद्धारणसंयुक्त स धर्म इति निश्चयः।।[5]

सूर्य, चन्द्र, तारामण्डल और पृथिवी आदि पदार्थ परस्पर के उपकार्य उपकारक भाव से विधृत हैं और वे परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट अपने–अपने विशिष्ट कार्यों को करने में समर्थ होते हैं। मानव को अपने उत्कर्ष साधन के लिए समाज की अपेक्षा है। समाज का समाजत्व इसी में है कि वह विभिन्न धर्मानुयायियों तथा विभिन्न प्रकार की

मानस वृत्तियों से युक्त व्यष्टि मानवों की स्थिति का सामंजस्य करता हैं। यही कारण है कि धर्म में समाज की प्रतिष्ठा है। केवल मानव समाज की ही नहीं प्रत्युत् सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा धर्म में है। इस विषय में वेद वाक्य है – धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा – अर्थात् धर्म ही विश्व का आश्रय भूत है।

किसी भी धर्म या मत के दो रूप होते हैं – सामान्य एवं विशेष। सामान्य धर्म जहाँ सर्व–मान्य, सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक होता है, वहीं विशेष धर्म युगीन मान्यताओं से प्रभावित होता है। सामान्य धर्म के अन्तर्गत सत्य अंहिसा, दान, दया क्षमा आदि की गणना होती है तो विशेष धर्म जैसे वर्णाश्रम धर्म आदि हैं, जो देश काल एवं परिस्थितियों से प्रभावित हुए और इसीलिए वर्ण व्यवस्था – जाति व्यवस्था में परिणत हो गई। फिर भी किसी भी पदार्थ में विद्यमान तत् पदार्थत्व रूप सामान्य धर्म की उपलब्धि उसके विशेष रूप में ही होती है। जैसे विहंगत्व (पक्षित्व) सामान्य रूप है तथा काकत्व बकत्व और शुकत्व उसके विशेष रूप हैं। यहाँ विहंगत्व चेतना उसके विशेष रूपों में निहित है।

वस्तुतः धर्म का द्योतक तत्त्व है – सार्वभौमत्व, सार्वकालिकत्व एवं अद्वितीयत्व। वैदिक वाङ्मय में धर्म शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों अथवा क्रिया–संस्कारों के लिए हुआ है। ऐतरेय ब्राहमण में धर्म शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण धार्मिक कर्त्तव्यों के अर्थ में हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् में धर्म शब्द छात्रानुशासन के अर्थ में है।

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्माप्रमदः[6]

वैशेषिक दर्शन में धर्म उसको कहा है जिससे ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयस् की उपलब्धि हो।

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः सः धर्मः[7]

महर्षि कपिल ने उन्नति को धर्म का फल और अधर्म का परिणाम अवनति को कहा है। धर्म की कुछ एकांगी परिभाषाएं भी है जैसे अहिंसा परमोधर्मः, आचारः परमोधर्मः आदि।

अमरकोष में धर्म शब्द के पुण्य, श्रेय, सुकृत, वृष, वैदिक विधियाँ, यम, न्याय, स्वभाव, आचार एवं सोमपायी आदि अनेक पर्यायवाची शब्द प्राप्त होते हैं। धर्म शब्द

अनेकार्थक एवं बहुव्यापक होते हुए भी व्याकरण शास्त्र के अनुसार मुख्यतः धारण करने के ही अर्थ में अधिक संगत है।

मनुस्मृति में धर्म तत्त्व को सुबोध एवं हृदयंगम करने के उद्देश्य से धर्म के विविध लक्षण प्रस्तुत किये हैं जैसे धर्म का सामान्य लक्षण, श्रुतिस्मृत्युक्त धर्मलक्षण, धर्म का चतुर्विध लक्षण तथा दशविध धर्म लक्षण। सामान्य लक्षण के रूप में धर्म, धर्मात्मा एवं रागद्वेष रहित विद्वानों के द्वारा सर्वदा सेवित होता है और हृदय से अच्छी तरह से जाना जाता है। श्रुतिस्मृत्युक्त धर्म लक्षण के रूप में वेद और स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का अनुष्ठान किया जाता है तथा धर्मानुष्ठान जन्य स्वकर्मादि के उत्तम सुख को प्राप्त किया जाता है। मनु ने धर्म के चतुर्विध लक्षण में वेद, स्मृति, सदाचार तथा अपने मन की प्रसन्नता का कथन किया है धर्म के दशविध लक्षणों में मनु ने धैर्य, क्षमा, दम (इन्द्रिय निग्रह), अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा क्रोध न करना ये धर्म के दस लक्षण माने हैं –

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।[8]

महर्षि जैमिनी ने धर्म का लक्षण किया है – चोदना लक्षणोऽर्थोधर्मः (पूर्वमीमांसा सूत्र 1/1/2) अर्थात् क्रिया में प्रवर्तित करने वाले, कर्म की अभिप्रेरणा देने वाले शास्त्र–वचन का नाम चोदना (प्रेरणा) धर्म है। एक मात्र धर्म शब्द से जाति–विशेष की सभ्यता, संस्कृति, आचार–विचार, रहन–सहन, रीति–रिवाज और जीवन यापन की शिष्ट क्रिया तथा उसका निदर्शन प्रस्तुत हो सकता है।

सभी धर्म एक परमचेतना के विविध रूप हैं। आज मानव साम्प्रदायिक विद्वेष एवं सामाजिक विघटन की त्रासदी झेल रहा है अतः विश्व में व्याप्त सभी धर्मों के मूल में निहित चेतना को समझना भी आवश्यक है।

वस्तुतः चेतना मानव मस्तिष्क में प्रवहमान वह शक्ति है जो मनुष्य को निरन्तर चैतन्य प्रदान करती है चेतना की गति नामक विशेषता के कारण उसमें परिवर्तनशीलता दिखाई देती है। यह चेतना समष्टिगत तथा व्यष्टिगत उभय रूप वाली है। दर्शन या अध्यात्म के क्षेत्र में आत्मबोध ही चेतना है। साहित्य एवं दर्शन में चेतना के लिए चैतन्य शब्द का प्रयोग हुआ है।

इतिहास एवं विकास के नज़रिये से चेतना को प्रारम्भ से ही दार्शनिक दृष्टि एवं प्रश्नों से जोड़कर देखा गया। दर्शन से मनोविज्ञान एवं मनोविज्ञान से विज्ञान तक की यात्रा में चेतना के विभिन्न रूप, प्रकार तथा अवस्थाओं के रूप में आधुनिक भाववाद (Positivism) अस्तित्ववाद (Existenlialism) एवं विकासवाद (Evoloutionism) में चेतना का नया अध्ययन उभर कर सामने आया।

चेतना ही एक मात्र सत है। यह विविध रूप जीवन और जगत् एक नियामक चेतन का ही कार्य है। काव्य, साहित्य, संगीत एवं विविध कलाओं में गेयता, भावात्मकता एवं प्रकल्पनात्मक एकता, उसके जनक चेतन तत्त्व की एक रूपता को प्रकट करता है।

डा0 नगेन्द्र[9] के अनुसार चेतना का अर्थ 'वह सत्ता या शक्ति है जो ज्ञान का मूलाधार है और इसीलिये जो स्वयं अपरिभाष्य है। अन्तर्निरीक्षण द्वारा ही चेतना का ज्ञान सम्भव है, बाह्य निरीक्षण चेतना की क्रियाओं का परिचय मात्र दिला सकता है।

डा0 रामप्रसाद त्रिपाठी[10] के अनुसार चेतना जीवधारियों में रहने वाला वह तत्त्व है जो निर्जीव पदार्थों से भिन्न बनाता है। दूसरे शब्दों में हम उसे मनुष्य की जीवन क्रियाओं को चलाने वाला तत्त्व कह सकते हैं।

रामचन्द्र वर्मा[11] के अनुसार – मन की वह वृत्ति या शक्ति जिससे जीव या प्राणी को आन्तरिक (अनुभूतियों, विचारों, भावों) आदि और बाह्य (घटनाओं) तत्त्वों या बातों का अनुभव या भान होता है, वही चेतना है।

पारमार्थिक दृष्टि से चेतन तत्त्व ही स्फोट है। स्फोट शब्द है, ध्वनि उस शब्द का गुण है। यहाँ स्फोट का स्पष्टीकरण भी आवश्यक है। संस्कृत आचार्य दण्डी के अनुसार शब्द नामक ज्योति से यह सम्पूर्ण संसार देदीप्यमान है। शब्द दो प्रकार का होता है – अनित्य तथा नित्य। अनित्य शब्द से वैयाकरणों का तात्पर्य उच्चारण जन्य और श्रोतग्राह्य ध्वनि अथवा नाद से है तथा नित्य शब्द से उनका तात्पर्य मूल तत्त्व शब्द से है जो न तो उच्चारण जन्य है न श्रोतगाह्य। यही नित्य है। ध्वनि अनित्य है। स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः अर्थात जिससे अर्थ की प्रतीति हो, उसे स्फोट कहते है। इस प्रकार स्फोट की अभिव्यक्ति शब्द से होती है तथा ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्फोट के अभिव्यंजक शब्दों के लिए

ध्वनिपद का प्रयोग किया जाता है। यह स्फोट वर्ण, पद, वाक्यादि भेद से आठ प्रकार का होता है। यह स्फोट ही Big-Bang है। सर्न में जुलाई 2012 में किये गये महा विस्फोट के बाद हिग्स बोसोन जैसे सूक्ष्म कण की खोज की गई। बिग–बैंग थ्योरी (महाविस्फोट सिद्धान्त) के अनुसार लगभग 14 अरब वर्ष पूर्व एक महाविस्फोट से इस संसार की रचना हुई पर किसी प्रयोग द्वारा इसे प्रमाणित नहीं किया गया। सर्न का महाप्रयोग इन्हीं प्रश्नों का उत्तर ढूँढने का एक प्रयास था। वहाँ वैज्ञानिकों ने लार्ज हेड्रॉन कोलाइडर (एल.एच.सी) बनाया और उसमें आयनों की टक्कर से 10 खरब सेल्यिस का तापमान पैदा किया जो सूर्य के केन्द्र में उपस्थित तापमान से भी काफी ज्यादा था कई महीनों की मेहनत के बाद कुछ प्रश्नों के उत्तर मिले जिनमें से गौड पार्टिकला (हिग्स बोसोन) भी एक है।

इस प्रकार वैयाकरणों ने जिसे स्फोट कहा; वैज्ञानिकों ने उसे बिग–बैंग कहा। भर्तृहरि के अनुसार स्फोट रूप शब्द ही एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है तथा यह जगत् स्फोट का विवर्तमात्र है। इस जगत् में सभी धर्मों, जीवों का उत्स एक ही है। स्फोट के परिणाम स्वरूप जो चेतना उत्पन्न हुई, उसी से चतुर्विध सृष्टि रूपायित हुई। अतः सभी जीवों में एक ही प्रकार की चेतना है। सभी धर्म एक ही प्रकार की चेतना के विविध रूप हैं। चेतना एक है, धर्म अनेक। यही है धर्म और चेतना का अन्तः सम्बन्ध। सभी धर्म एक ही चैतन्य शक्ति के विविध रूप है।

प्राकृतिक दिव्य सत्ताओं के व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक; दो रूप प्रायः हर धर्म में उपलब्ध हैं। व्यावहारिक रूप जहाँ प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर है वहीं आध्यात्मिक चेतनामय रूप सूक्ष्म होता है और इसका हमें अन्तः आभास होता है। उदाहरणार्थ वेदों में सूर्य सूक्त एवं सवितृ सूक्त दोनों उपलब्ध हैं। सूर्य अपने लौकिक (व्यावहारिक) रूप द्वारा जगत् को प्रकाशित करता है तथा आध्यात्मिक (सवितृ) स्वरुप द्वारा जीव की बुद्धि को प्रस्फुटित करता है, यही सूर्य की दिव्य चैतन्यमयी सत्ता है। धर्म का व्यावहारिक रूप जितना भौतिक होता है आध्यात्मिक रूप उतना ही सूक्ष्म एवं चैतन्यमय होता है।

भारतीय संस्कृति के महत्त्वपूर्ण अंग; धर्म की प्रतिष्ठा दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक चेतन तथ्यों पर अवलम्बित है। धर्म ही तदनुकूल आचारों की व्यवस्था करता है। चेतना की नींव पर ही धर्म का भव्य एवं व्यावहारिक प्रासाद खड़ा होता है। आर्यावर्त में प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक चेतना और धर्म का सुमधुर सामंजस्य

रहा इसीलिये धर्म स्वयं को तर्क हीन विचारों एवं निरर्थक आस्थाओं एवं विश्वासों से बचा सका। दुःख निवृत्ति की खोज से धर्मोदय होता है और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का एक मात्र उपाय परम चेतन तत्त्व में लय है। वस्तुतः परमात्मदर्शन, परमेश्वर दर्शन, ब्रह्म लाभ, स्व या आत्म चेतना को परम चेतना में लय कर देना ही उन्नत दर्शन है। इस प्रकार चेतना; धर्म की पराकाष्ठा है।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्[12]

पाश्चात्य धर्म; दार्शनिक चेतना का पूर्णतः साधक नहीं कहा जा सकता। वहाँ पर विशुद्ध तार्किक दृष्टि से विवेचन करने वाले विद्वानों को पादरियों ने शूली पर चढ़ा दिया। भारतवर्ष में चेतना और धर्म का गहन सम्बन्ध है। आचार, विचार, दान–दक्षिणा, सत्संग, सेवा, भजन, कीर्तन रूप वैविध्य सम्पन्न धर्म; चेतना प्राप्ति का साधन है। आर्यावर्त के प्राचीन तपोनिष्ठ महर्षियों ने इस विश्व की पहेली को समझाने के लिये जिन विचारों को जन्म दिया वे हमारे दर्शन के सर्वस्व हैं। अनेक रूपात्मक यह जगत् प्रतिक्षण विलक्षणता धारण करने वाले पदार्थों का पुंज है। इन पदार्थों के बाह्य वैविध्य सम्पन्न स्वरूपों के भीतर एक समान रूपता तो एक ही परम चेतना के कारण हैं। जगत् के समस्त पदार्थों में प्रियतम वस्तु यही आत्मा है। इस विशाल वृत्त स्थानीय जगत् का केन्द्र यही आत्मा है। केन्द्र निश्चित् है परन्तु परिधि अनन्त, असीम है। इसी आत्मा का साक्षात्कार मोक्ष या परम चैतन्य तत्त्व में लय है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी आत्मा के साक्षात्कार को मोक्ष का स्वरूप कहा है।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो

मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन

मत्या विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति।।[13]

आत्मा का श्रवण करो, मनन करो तथा ध्यान करो। आत्मा के विज्ञान से सब ज्ञात हो जाता है। सन्त तुलसी साहब[14] का कथन है कि चेतन ब्रह्म तो शरीर में ही है, उसे बाहर ढूँढ़ने से क्या लाभ।

चेतन ब्रह्म वेराट् यह, आतमतन के माहँ।

तुम बाहर खोजत फिरे, जासे लगा न थाह।।

कवि भर्तृहरि ने भी नीतिशतक काव्य में स्वानुभूति परक चेतना को भगवान् के अस्तित्व का एक मात्र श्रेष्ठ प्रमाण माना है

स्वानुभूत्यमेकमानाय नमः शान्ताय तेजसे।[15]

वस्तुतः उस परम पुरुष की सत्ता अथवा चेतना का प्रबलतम प्रमाण स्व अनुभव ही हो सकता है। भगवान् शिव ने स्वयं अपने भीतर जिस परमतत्त्व का अनुभव या दर्शन किया वह परमात्म संज्ञक चेतना ही थी।

योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञंदृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम्।[16]

इसी परम चेतन तत्त्व को आदि पुरुष, पुराण पुरुष, पुरातन पुरुष आदि कहा गया। यह परम पुरुष अक्षर या अव्यय भी है। उस परम पुरुष के स्वरूप का क्षरण या व्यय नहीं होता अर्थात् वह निर्विकार है –

यमक्षरं क्षेत्र विदो विदुस्तमात्मानम्[17].....

तमसं परमापद व्ययं पुरुषं योग समाधिना रघु[18]

यह परम चेतन तत्त्व अज या अजन्मा, ज्योति स्वरुप और अन्तर्यामी या सर्वान्तरात्म तत्त्व है। वह परम चेतन तत्त्व अवाप्त समस्त काम है। फलतः उसे कुछ प्राप्त नहीं करना उसके जगत् सृष्टि आदि कार्य लोकानुग्रह मात्र हैं। विविध अवतार, देवता, पैगम्बर आदि उसी परम चेतन तत्त्व के विविध रूप हैं जो धर्मानुष्ठान या सद् कृत्यों में प्रेरणा एवं असत् कृत्यों से निवृत्ति के रूप में लोक का पथ प्रदर्शन करते हैं।

अब क्रमशः विविध धर्मों में निहित चेतना पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

वैदिक धर्म एवं चेतना – वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन के प्राण हैं। भारतीय धर्म तथा चैतन्य तत्त्वज्ञान की आकृति तथा प्रकृति, उद्गम तथा विकास के समुचित अनुसंधान के लिए वैदिक साहित्य; ग्रन्थ–मणि स्वरुप है। सर्वव्यापी सर्वात्मक चेतन ब्रह्म सत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। यही कारण स्वरूप चेतन सत्ता कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न–भिन्न आकारों में परिलक्षित होती है। प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही चेतन सत्ता है, एक ही नियन्ता है,

एक ही देवता है। अन्य सकल देवता इसी मूलभूत चेतन सत्ता के विकाशमात्र हैं। ऐतरेय आरण्यक ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी उक्थ में किया करते हैं, उसी चेतन शक्ति की उपासना यजुर्वेदी याज्ञिक अग्नि के रूप में करते हैं तथा सामवेदी महाव्रत याग में उसी की उपासना करते हैं।

एतं ह्वेव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव।

एतं महाव्रते छन्दोगाः[19]

यास्क[20] ने निरुक्त दैवत–काण्ड (सप्तम् अध्याय) में देवता के स्वरूप विवेचन में कहा है कि इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्वशालिनी (चेतन) शक्ति विद्यमान है जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से ईश्वर है। वह एक अद्वितीय है। उसी एक की बहुत रूपों में स्तुति की जाती है।

महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधास्तूयते।

एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगनि भवन्ति।

इस प्रकार निरुक्त के उपर्युक्त कथनानुसार देवतागण एक ही चैतन्य शक्ति के विविध रूप हैं। वृहद् देतवा[21] में निरुक्त के उपर्युक्त कथन का अनुमोदन किया गया है।

वर्तमान में देवताओं के लिए सुर तथा राक्षसों के लिए असुर शब्द का प्रयोग होता है। वैदिक काल में असुर शब्द देवताओं के लिए प्रयुक्त होता था। असु का अर्थ होता है प्राण शक्ति सम्पन्न अथवा चेतना युक्त। ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के पचपनवें सूक्त में देवताओं का असुरत्व एक ही स्वीकार किया गया है तथा असुरत्व का अर्थ है एक ही प्रकार की चेतना अथवा बल या सामर्थ्य से युक्त। इस सूक्त के प्रत्येक मंत्र के अन्त में यह पंक्ति आती है – **महद्देवानामसुरत्वमेकम्** अर्थात् देवों का महत्व सामर्थ्य (चेतना) एक ही है। जीर्ण औषधियों में, नवीन उत्पन्न होने वाली औषधियों में, पल्लव तथा पुष्पों से सुशोभित औषधियों में तथा गर्भधारण करने वाली औषधियों में एक ही शक्ति अथवा चेतना विद्यमान रहती है। देवों का महत् सामर्थ्य वस्तुतः एक ही है।

आक्षित्पूर्वास्वपरा अनुरुत्सद्यो जातासु तरुणीष्वन्तः।

अन्तर्वतीः सुवते अप्रवीता महद्देवानामसुरत्वमेकम्।।[22]

वैदिक धारणानुसार चराचर लोक की सृष्टि, संवर्द्धन और संहार का नियामक ऋत है। ब्रहमाण्ड की संतुलित गति ऋत पर निर्भर है। डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल[23] के अनुसार ऋग्वेद में ऋत शब्द सृष्टि के अखण्ड एवं देशकाल व्यापी नियमों के लिए प्रयुक्त हुआ तथा आगे चलकर इसी अर्थ में धर्म शब्द प्रयुक्त होने लगा। इस प्रकार ऋग्वेद में प्राप्त ऋत शब्द सत्य एवं अविनाशी चेतनसत्ता के अर्थ में है। देवता भी ऋत के स्वरूप हैं अथवा ऋत से उत्पन्न हैं। सोम ऋत व जात ऋतरूप हैं[24] सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं।[25] समस्त ब्रहमाण्ड में यही ऋत या चेतन शक्ति अनुप्रविष्ट है। इसी चेतनसत्ता के अवलम्बन से कार्य वर्ग की स्थिति है।

देवताओं के भी तीन रूप हैं – स्थूल (दृश्य) रूप, सूक्ष्म (अदृश्य या गूढ़) रूप तथा आध्यात्मिक रूप। जैसे विष्णु के स्थूल या आधिभौतिक रूप का दर्शन हम नेत्रों से करते हैं। इन्द्रियातीत अर्थात् भौतिक इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य उनका गूढ़ या आधिदैविक रूप है। उनके भव्य चैतन्यमय आध्यात्मिक रूप के दर्शन भी कुछ मंत्रों में होते हैं जैसे – जिस रूप में विष्णु ने पार्थिव लोकों का निर्माण किया, 'उत्तर सधस्थ' अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन क्रमों से इस विश्व को माप डाला वह उनका एक रूप है[26] परन्तु इसके अतिरिक्त उनका परम पद है जहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप निवास करता है। वहाँ विष्णु भक्त अमृतपान करते है, आनन्दानुभव करते हैं। उसमें मधुचक्र है, अमृत कूप है।[27]

ब्राह्मण युग में यज्ञ का सम्पादन ही धर्म का मुख्य उद्देश्य था तथा समस्त कर्मों में यज्ञ ही श्रेष्ठ माना गया – यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।[28] विश्व का सर्वश्रेष्ठ देवता प्रजापति यज्ञ रूप कहा गया अर्थात् उन्हें यज्ञ का आध्यात्मिक प्रतीक माना गया।[29] विष्णु का भी प्रतीक यज्ञ माना गया तथा आदित्य को भी यज्ञ रूप कहा गया। इस वैदिक यज्ञ तत्त्व का उल्लेख यद्यपि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में हुआ है तथापि ब्राह्मण युग में यज्ञ को एक परम धार्मिक कृत्य माना गया। अग्निहोत्र के अनुष्ठान से प्राणी अपने समस्त दुष्कृत्यों से मुक्त हो जाता है। **सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति**[30] गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि शाकला हवन एक ऐसा

धार्मिक कृत्य है जिससे पापों से मुक्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार साँप अपने पुरानी केंचुल से छूट जाता है तथा इषीका मुंज से छूट जाती है।[31]

वस्तुतः भौतिक याग एक प्रतीकात्मक व्यापार है। बहिर्याग का सम्बन्ध अन्तर्याग से भी है। अग्नि समिन्धन के अनन्तर प्रथमतः दो आहुतियाँ दी जाती हैं – (1) पूर्वाधार आहुति (2) उत्तराधार आहुति। पूर्वाधार आहुति मन के लिए (अथवा मनश्चेतना के जागरण हेतु) दी जाती है तथा द्वितीय उत्तराधार आहुति वाक् (या वाक्श्चेतना) हेतु दी जाती है। भौतिक रथ को खींचने के लिए जैसे दो अश्व अपेक्षित होते हैं, उसी प्रकार यज्ञचक्र के खींचने अथवा सम्यक् अनुष्ठान हेतु मन (मनश्चेतना) तथा वाक् (चेतना) की आवश्यकता होती है। मन, वाक् के संयोग के बिना यज्ञ जैसे धार्मिक कृत्य का सम्पादन नहीं किया जा सकता है।

यज्ञ का सम्पादन बाह्याचार होते हुए भी पूर्णतः अन्तः आचार अथवा अन्तश्चेतना पर अवलम्बित था। असत्यभाषी पुरुष यज्ञ के योग्य नहीं होता **अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति**[32]

मन ब्राह्मणात्मक वेद के जिस अंश में प्राण विद्या तथा प्रतीक उपासना वर्णित है, वह अंश आरण्यक है। आरण्यक का दूसरा नाम 'रहस्य' भी है[33] मुख्यतया 'ब्रह्मविद्या' अथवा ब्रह्मविषयक चेतना के लिए रहस्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः आरण्यक यज्ञ के गूढ़ रहस्य का प्रतिपादन करता है और कर्मकाण्ड की दार्शनिक व्याख्या करता है।

अरण्य का शान्त वातावरण प्राण विद्या की उपासना के लिए उपयुक्त था। आरण्यक ऋग्वेद के मन्त्रों की पुष्टि में ही प्राण विद्या का कथन करते हैं। ऐतरेय आरण्यक में प्राण (चेतना) को ही स्रष्टा तथा पिता कहा है। प्राण (चेतना) के द्वारा अन्तरिक्ष तथा वायु की सृष्टि हुई है। प्राण पिता है तथा अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान है। प्राण (चेतना) इस विश्व का धारक होने के साथ–साथ रक्षक भी है। मन्त्र द्रष्टा ऋषियों के रूप में भी प्राण (चेतना) ही विद्यमान है।

प्राणशक्ति (चेतना) से यथा आकाश स्थित है तथैव सबसे बड़े प्राणी से लेकर पिपीलिका अर्थात चींटी तक सभी जीव विधृत हैं। इस प्राण (चेतना) के अभाव में यह

सृष्टिहीन होती। **सोऽयमाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धः, तद्यथामाकाशः प्राणेन बृहत्या विष्टबधः एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन बृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।**[34]

उपनिषदों का भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इनके अध्ययन से भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सम्यक् ज्ञान हो सकता है। ये भारतीय तत्त्वज्ञान अथवा चैतन्य ब्रह्म या चेतन शक्ति तथा धर्म सिद्धान्तों के मूल स्रोत हैं। भारतीय दर्शनों के मूल भी उपनिषद् ही हैं।

प्रश्नोपनिषद्[35] में कहा है कि हे प्राण तू ही गर्भ में विचरने वाला और माता–पिता के अनुरूप सन्तान के रूप में जन्म लेने वाला है। तू ही अपानादि सब प्राणों के सहित सबके शरीर में स्थित हो जाता है।

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि।

इसी उपनिषद्[36] में पुनः कहा है यह सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मा से उत्पन्न हुआ है – आत्मन एष प्राणो जायते। अर्थात् यह प्राणशक्ति या प्राण चेतना का मूल भी परमात्मा स्वरूप परम चेतना है। यह सर्वश्रेष्ठ प्राण अपने अंग स्वरूप अपान, व्यान, आदि दूसरे प्राणों को शरीर के पृथक्–पृथक् स्थानों पर पृथक्–पृथक् कार्यों के लिए उसी प्रकार नियुक्त कर देता है जिस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट भिन्न–भिन्न ग्राम, मण्डल और जनपद आदि में पृथक्–पृथक् अधिकारियों की नियुक्ति करता है। मानव शरीर में हृदय प्रदेश को जीवात्मा या प्राणचेतना का निवास स्थान कहा है। **हृदि ह्येष आत्मा**[37]

कठोपनिषद् में नचिकेता के विशेष आग्रह करने पर यम उसे अद्वैत तत्त्व का मार्मिक तथा हृदयंगम उपदेश देते हैं – नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन वह एक ब्रह्म सभी प्राणियों की आत्मा में निवास करता है। उसी चैतन्य ब्रह्म का दर्शन शान्ति का एकमात्र साधन है।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।[38]

माण्डूक्य उपनिषद् में ऊँकार की मार्मिक व्याख्या की गई है। ऊँकार में तीन मात्राएँ होती हैं तथा चतुर्थ अंश अमात्र होता है। चैतन्य की तदनुरूप चार अवस्थाएं

होती हैं – जागरित, स्वप्न, सुषुप्ति तथा चैतन्य की अव्यवहार्य तुरीय दशा। इन्हीं का अधिपत्य धारण करने वाला आत्मा भी क्रमशः चार प्रकार का होता है – वैश्वानर, तैजस्, प्राज्ञ तथा प्रपंचोपशम रूपी शिव जिसमें अन्तिम चैतन्य आत्मा का विशुद्ध रूप है।

जो मनुष्य ओंकार और परब्रह्म परमात्मा अर्थात् नाम और नामी की एकता के रहस्य को समझकर तत्परता से साधन करता है वह निःसंदेह आत्मा से आत्मा में अर्थात् परात्पर परब्रह्म परमात्मा में लीन हो जाता है।[39]

ऐतरेय उपनिषद् में कहा है कि मनुष्य का शरीर ही (चैतन्य) पुरुष के लिये उपयुक्त आयतन है जिसके भिन्न–भिन्न अवयवों में देवताओं ने प्रवेश किया तदनन्तर परमात्मा (चैतन्य पुरुष) उसके मूर्धसीमा को विदीर्ण कर प्रवेश करता है तथा जीव भाव को प्राप्त कर भूतों के साथ तादात्म्य रखता है। तदनन्तर गुरु कृपा से बोध के अनन्तर सर्वव्यापक शुद्ध स्वरुप का साक्षात्कार होता है।

> स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः,..... ।[40]

महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी आत्मा के साक्षात्कार को मोक्ष का स्वरुप कहा है।

> आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो
>
> मन्तव्यो निदिध्यायासितव्य।
>
> आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन
>
> मत्या विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति।।

कौषीतकि उपनिषद् में कहा गया है कि प्राण प्रथमतः जीवन का तत्त्व है, तदनन्तर चैतन्य का तत्त्व है। अन्त में यही प्राण आत्मा का प्रतीक सिद्ध किया गया है जो जगत् के समस्त पदार्थों का कारण है तथा प्राणिजन उसके हाथ में यन्त्रवत् घूमते रहते हैं।

इस विषय में कुछ अन्य उपनिषद् वाक्य निम्नवत् हैं जैसे जिसका नेत्रों द्वारा दर्शन तथा हाथों द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता जिसका कोई रूप रंग नहीं है, जो आँख,

कान, हाथ, पैर आदि से रहित है, उस नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म एवं अविनाशी चैतन्य ब्रह्म तत्त्व को धीर पुरुष ही सब ओर देखते हैं।[41]

जिस प्रकार जलती हुई आग से उसी के समान रूप वाली सहस्रों चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार उस अविनाशी चैतन्य ब्रह्म से नाना प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं।[42] छान्दोग्य उपनिषद का कथन है कि यह सारी प्रजा सत् रूपी कारण से उत्पन्न हुई है, सत् में ही निवास करती है और सत् में ही प्रतिष्ठित होती है।

ऋग्वेद में वर्णित है कि परमेश्वर ने आकाश के बीच में त्रिपाद परिमित स्थान में त्रिलोक का निर्माण करके उनके भीतर धर्मों (जगन्निर्वाहक कर्म समूहों) को स्थापित किया।

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।

अतो धर्माणि धारयन्।[43]

कठोरनिषद में स्पष्टतः कहा है कि सम्पूर्ण वेद जिस पद का बारम्बार प्रतिपादन करते हैं वह ओम् है। इस वाक्य द्वारा समस्त श्रुतियों की एकार्थता का स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है –

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।[44]

निष्कर्षतः कह सकते हैं वेदादि ग्रन्थों में तीन लोकों तक की चेतना रूप ओम् पद का कथन है।

वैदिक धर्म अद्वैत चैतन्य तत्त्व के ऊपर अवलम्बित है। अनेकता में एकता, भिन्नता में अभिन्नता की कल्पना, दार्शनिक जगत् के मौलिक धार्मिक तत्त्व हैं और इस निगूढ़तम अनन्य चैतन्य तत्त्व के अनुसंधान करने का समस्त गौरव हमारे वैदिक ऋषियों को है।

वैदिक धर्म में समष्टि भावना पूर्ण चेतना के साथ विद्यमान है। वैदिक ऋषि व्यष्टि के कल्याण के लिए प्रार्थना नहीं करता है वह तो समस्त समष्टि का कल्याण चाहता है।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव

यद् भद्रं तन्न आसुव।।[45]

हे देव सविता, समस्त पापकर्मों को हमसे दूर करो हमारे लिये जो कल्याणकारी पदार्थ हो, उसे हमें प्राप्त कराइये।

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के सांमनस्य सूक्त हमें विश्व कल्याण का सन्देश देते हैं।

सं गच्छध्वं संवदध्वम सं नो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते।।[46]

अर्थात् हे मनुष्यों जैसे सनातन से विद्यमान दिव्य शक्तियों से सम्पन्न सूर्य चन्द्रादि देव परस्पर अविरोध भाव से प्रेम से अपने कार्यों को करते हैं ऐसे ही तुम भी समष्टि भावना से प्रेरित होकर एक साथ कार्यों में प्रवृत्त हों। एकमत्य होकर परस्पर सद्भाव से रहो।

एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि मानवों की आकृति, चित्तवृत्ति, हृदय तथा मन सब समान रह सकते हैं –

समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु मो मनो यथा वः सुसहासति।।[47]

वैदिक ऋषियों की दृष्टि में धर्म ही जीवन यात्रा का मुख्य उपयोगी साधन है। सत्य की नाव ही धर्मात्मा को पार लगाती है। वेद अध्यात्म के साथ व्यवहार का, परलोक के साथ इहलोक का मंजुल सामंजस्य अपने मन्त्रों से करता है। वेद मनुष्यों को कर्मठ, देशभक्त तथा परोपकारी बनने की शिक्षा देता है – न ऋते श्रान्तस्य सख्यायदेवाः अर्थात् बिना कठिन परिश्रम के देवों का सानिध्य या मैत्री प्राप्त नहीं होता। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के रूप में वेद में अद्वैतवाद का कथन है। प्राणिमात्र में एक ही चैतन्य व्याप्त है। प्राणि मात्र को परस्पर बन्धुता और सबके सुख की कामना करनी चाहिये –

सर्वेऽत्र सन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।

अर्थात् सब प्राणी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी कल्याण प्राप्त करें, कोई भी दुःख को प्राप्त न करे।

स्मृतियों में नित्य, नैमित्तिक, काम्य और आपद्धर्म के रूप में धर्म का चार रूपों में कर्त्तव्याधारित विभाजन प्राप्त होता है। नित्य कर्म जैसे पंच महायज्ञ तथा अग्निहोत्रादि इसमें आते हैं। प्रतिदिन अज्ञानवश होने वाले पापों के विनाश के लिए ही नित्य कर्मों का सम्पादन किया जाता है। नित्य धर्म से कोई विशेष पुण्य वृद्धि नहीं होती किन्तु इनके न करने से पाप की सम्भावना होती है। नैमित्तक धर्म किसी विशेष निमित्त अर्थात् अवसरों या परिस्थितियों पर किये जाते हैं। किसी कामनापूर्ति हेतु किये जाने वाले धर्म को काम्य धर्म कहते हैं। काम्य धर्म अपरिहार्य नहीं है और इसके न करने से कोई दोष भी नहीं लगता।

विशेष परिस्थितियों में जब वर्णाश्रम के अनुकूल धर्म पालन असम्भव होता जाता है, तब स्मृतियों ने उनके कुछ विकल्प बताये हैं जो शास्त्र विहित होने के कारण धर्मानुकूल हैं, उसे आपद्धर्म कहते हैं।

मनु ने आत्मज्ञान या आत्म चेतना को परम धर्म कहा है – सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।[48] अर्थात् सभी शुभ कर्मों जैसे वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रिय–संयम, अंहिसा, गुरुजनों की सेवा आदि शुभ धार्मिक कृत्यों में आत्म ज्ञान या आत्म चेतना सर्वश्रेष्ठ है। किसी भी धर्म साधन से यदि आत्म चेतना परिष्कृत नहीं हुई तो क्या लाभ।

महर्षि बाल्मीकि साक्षात् तपोमूर्ति थे। बाल्मीकि के राम साक्षात् धर्म के स्वरूप या मूर्त रूप हैं। वे **'एष विग्रहवान् धर्मः', रामो विग्रहवान् धर्मः** आदि वाक्य बार–बार लिखते हैं। वस्तुतः धर्म के दो स्वरूप हैं – एक सिद्ध और दूसरा साध्य। जिसके सिद्ध होने में किसी भी क्रिया की अपेक्षा नहीं होती, अर्थात् जो किसी भी उपायान्तर की अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् जो स्वयं सिद्ध है उसको सिद्ध धर्म कहते हैं। इस सिद्धान्तानुसार **रामो विग्रहवान् धर्मः, कृष्णं धर्मं सनातनम्** आदि प्रमाणों के अनुरूप पूर्ण परब्रह्म परमात्मा रूप चैतन्य तत्त्व ही सिद्ध धर्म है। वह स्वयं सिद्ध चेतना है जो पुरुषों के प्रयास से साध्य नहीं है। वह तो पूर्व सिद्ध अर्थात नित्यसिद्ध चेतना है। उसी नित्य सिद्ध चैतन्य तत्त्व को सिद्ध धर्म कहते हैं।

सिद्ध धर्म रूप परमात्मा अथवा परम चैतन्य तत्त्व ही इस जगत् का आधार है। उसी की अपार शक्ति से इस निरालम्ब आकाश में सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह–नक्षत्रमण्डल आदि के साथ यह ससमुद्रा पृथिवी बड़े फैलाव के साथ सुस्थिर है अतः सम्पूर्ण श्रुति–स्मृति साहित्य में सिद्ध रूप धर्म (चेतना) को ही धर्म का मुख्याधार बताता है।

द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः।

वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः।।

इस प्रकार यह परमेश्वर रूप चेतना ही जगत् को धारण करती है। अतः वही चेतना जगत् का आधार है। फलमतः उपपत्ते (ब्रहमसूत्र 3/2/38) के अनुसार प्राणियों के तत्–तत् कर्मों का फलदाता होने के कारण वह सम्पूर्ण फलों का भी साधन है। धर्माचरण करने वालों का वह संकल्प मात्र से ही अभ्युदय तथा निःश्रेयस् प्रदान कर देता है। कर्म और उससे उत्पन्न होने वाला अपूर्व ये दोनों की जड है अतः किसी चेतन प्रेरणा के बिना वे फल नहीं दे सकते।

अर्जुन से भगवान् कृष्ण कहते हैं कि यदि तुम साध्य धर्म का विधिवत् पालन नहीं कर सकते तो मेरी अर्थात् सिद्ध धर्म की शरण में आ जाओ मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा अर्थात् सभी धर्मों के अनुष्ठान का फल प्रदान करुँगा।

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।[49]

यह सिद्ध धर्म उपायोपेय है अर्थात् उपाय रूप भी है और उपेय रूप भी। स्वयं सिद्ध चैतन्य स्वरूप धर्म के ज्ञान अथवा शरणागति आदि से भी जीव का कल्याण होता है अर्थात् भगवद्भजन, भगवत् कथा श्रवण या भगवत् शरणागति आदि के द्वारा भी उस परमचेतन सिद्ध धर्म का साक्षात्कार हो सकता है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है–

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।[50]

सिद्ध धर्म रूप परमात्मा की प्राप्ति या उसके साक्षात्कार के लिए साक्षात् अथवा परम्परया उपयोगी जो मनुष्यों के प्रयत्न साध्य, शास्त्रोक्त प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप प्रतिनियत उपाय (साधन) हैं उन सत्कर्मों एवं उनके अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाले अपूर्व (पुण्य को) साध्य धर्म कहते हैं। देश, काल, वर्ण, आश्रम, अधिकारी एवं

उनकी शक्ति और भावनाओं के अनुसार साध्य धर्म के अनेक भेद हो जाते हैं अर्थात सिद्ध धर्म रूप परम चेतना की प्राप्ति का उपाय वैविध्य सम्पन्न यह साध्य धर्म है।

सिद्ध धर्म रूप परम चैतन्य परमात्मा ने असंकीर्णता अर्थात् बड़े विस्तार के साथ इस विश्व को धारण करने के लिए जो–जो विधि–विधान या नियम निर्धारित किये हैं उन–उनके अनुकूल मानव की कायिक, वाचिक, मानसिक एवं आत्मिक उन्नति के साधन स्वरूप शास्त्रोक्त एवं अनिषिद्ध शुद्ध आचरण मय कृत्य साध्य धर्म के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार विश्व के धारण और पोषणानुकूल शास्त्रसम्मतसत्कर्म अथवा मानव के शरीर इन्द्रिय और मन के सदाचरण सम्पन्न कृत्य ही साध्य धर्म हैं।

महाभारत में धर्म की अतिव्यापक एवं विशद् प्रकल्पना है। इस विश्व के नानाविध अवयवों को एक सूत्र में, एक श्रृंखला में बाँधने वाला जो सार्वभौम तत्त्व (चेतना) है वही धर्म है। भागवत् पुराण में व्यास का कथन है –

धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।

न सिद्ध मुख्या असुरा मनुष्याः कुतश्च विद्याधरचारणादयः।[51]

अर्थात् धर्म भगवत् प्रणीत है इसके मर्म को ऋषि, देव और सिद्ध नहीं जान सकते। मनुष्य विद्याधर चारणादि की तो बात ही क्या। वस्तुतः यहाँ धर्मं तु 'साक्षात् भगवत् प्रणीतम्' के द्वारा उसी परम चेतन तत्त्व का कथन किया गया है। ऐसे चेतन (सिद्ध धर्म) को धारण करने से ही प्राणियों को अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है –

धारणाद् धर्म इत्याहु धर्मो धारयते प्रजा।

यः स्याद् धारणासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।[52]

इस जगत् में धर्म के बिना प्रजाओं को एक सूत्र में धारण करने वाला कोई दूसरा चेतन तत्त्व नहीं है। भीष्म पितामह का यह कथन धर्म की महनीयता तथा व्यापकता का स्पष्ट संकेत करता है –

सर्वत्र विहितो धर्मः सत्यप्रेत्य तपः फलम्।

बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहमस्ति विफला क्रिया।[53]

अर्थ – सभी आश्रमों में धर्म का विधान किया गया है जो अदृष्ट फल देने वाला होता है। धर्म के द्वार बहुत से है जिनके द्वारा वह अपनी अभिव्यक्ति करता है धर्म की कोई भी क्रिया या अनुष्ठान विफल नहीं होता।

मानव जीवन का स्वारस्य धर्माचरण में निहित है जो कि सकाम भाव से किये जाने पर ऐहिक फलों को देता है और निष्काम भाव से आदृत होने पर आमुष्मिक फल मोक्ष को प्रदान करता है। अतः महान् फल को भी देने वाले परन्तु धर्म से विहीन कर्म का संपादन मेधावी पुरुष कदापि न करे क्योंकि यह तद्धित अर्थात् उसके लिए हितकारक नहीं होता –

धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।

न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते।।[54]

श्रीमद् भगवद् गीता में भी निष्काम कर्म की प्रेरणा है –

कर्मण्येवग्रधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्

मा कर्मफल हेतु र्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि[55]

श्रीमद् भगवद् गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन को धर्म और चेतना के विषय में बताते हुए कहते हैं कि मेरे जन्म और कर्म निर्मल और अलौकिक हैं। इस प्रकार जो मनुष्य इसे तत्त्व से जान लेता है अर्थात् मेरे चैतन्य स्वरूप को जान लेता है, वह शरीर त्याग कर पुनर्जन्म नहीं लेता, मुझे ही प्राप्त होता है।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।[56]

पुनः वे विविध धार्मिक क्रियाओं के विषय में कहते हैं कि यज्ञ की सामग्री, पितरों को अर्पण किया जाने वाला अनाज, औषधि, मन्त्र, घृत, अग्नि आहुति मैं हूँ। इस विश्व का पिता–माता, आश्रयदाता वृद्ध, पवित्र, ओम्, ऋक्, यजुष और साम सभी कुछ मैं ही हूँ।

धर्म ही परलोक जाने वाला प्राणी का एक मात्र बन्धु है। धर्म निश्चयेन हमारा आप्त पुरुष तथा सर्वदा स्थाई नित्य चेतन तत्त्व है, अतः धर्मोपासना ही कल्याणकारी मानव का एक मात्र कर्त्तव्य होना चाहिये।

धर्मेमतिर्भतु वः सतितोत्थितानां स ह्येकः एवहि परलोकगतस्य बन्धुः।

अर्था स्त्रियश्च निपुणैरपि सेव्यमाना नैवाप्तभावमुपयान्ति न च स्थिरत्वम्।[57]

पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म ही सब पुरुषार्थों का सम्राट है। महाभारत में कहा है जहाँ धर्म है वहाँ श्रीकृष्ण (चेतना) है और जहाँ श्रीकृष्ण (चैतन्य) है वहाँ विजय है –

'यतो धर्मःस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः।[58]

महाभारत में सभी धर्मों को सुनने और धारण करने के लिए प्रेरित किया गया है साथ ही यह भी निर्देश किया है कि जो धर्म अपने प्रतिकूल हो उसका आचरण दूसरों के साथ नहीं करना चाहिये। इस प्रकार महाभारत में यह संकेत है कि सभी धर्म एक ही चेतना के विविध रूप हैं अतः सबका आदर करना चाहिये।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

निष्कर्षतः महाभारत में वर्णित धर्म नित्य चेतन – सनातन एवं देशकाल की सीमा से परे है। यह धर्म ही मानव कल्याण का परम साधक तत्त्व है तथा त्रिवर्ग (अर्थ, काम एवं मोक्ष) का सार धर्म ही है।

प्रकृति का संचालन करने वाली वाली एक अनन्त, अदृष्ट, अगोचर शक्ति है। यही शक्ति कुछ नैसर्गिक नियमों के आधार से विश्व का सर्वांग सुन्दर विकास नियमित करती रहती है। समस्त धार्मिक ग्रन्थों के समान पुराणों का भी उद्देश्य है; सम्पूर्ण समाज को धर्म एवं सदाचार के द्वारा भौतिक स्तर से आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचा देना तथा सारी जड़–चेतन समष्टि का कल्याण साधन करना। अष्टादश पुराणों में श्रीमद्भागवत पुराण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अति प्राचीनकाल से ही जिसकी ज्ञान गंगा का पावन प्रवाह चतुर्दिक प्रवाहित हो रहा है तथा असंस्कृत मानव को संस्कृत बना रहा है, वहीं परम धर्म भागवत धर्म है।

पुराणों में धर्म एवं चेतना विषयक तथ्यों को सरल, सुबोध एवं रोचक भाषा शैली में प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद् भागवत पुराण में श्रीकृष्ण कहते हैं – मेरा जितना विस्तार है, मेरा जो लक्षण है, मेरे जितने और जैसे रूप, गुण और लीलाएं हैं, मेरी कृपा से तुम उस (चैतन्य) तत्त्व को ठीक से सुनो।

यावानहं यथाभावो यद्रूप गुण कर्मकः। तथैव तत्त्व विज्ञानमस्तु मे मदनुग्रहात्।[59]

सृष्टि के पूर्व में; मैं ही मैं था। मेरे अतिरिक्त न स्थूल था न सूक्ष्म और न दोनों का कारण अज्ञान। जहाँ यह सृष्टि नहीं है, वहाँ मैं ही मैं हूँ और इस सृष्टि के रूप में जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह भी मैं ही हूँ और जो कुछ बचा रहेगा वह भी मैं हूँ।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यद् सदसत् परम। पश्चादहं यदेव तच्च योऽवशिष्येत् सोऽस्म्यहम्।[60]

ऐसे परम सत्य (चैतन्य) स्वरूप परमात्मा का ध्यान भक्त जन करते हैं –

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्।

तेन ब्रह्म ह्दा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।।[61]

अर्थात् जिससे इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं क्योंकि वही सद्रूप पदार्थों में अनुगत है और असत पदार्थों से पृथक है, जड नहीं, चेतन है, परतन्त्र नहीं स्वयं प्रकाश है। जो ब्रह्मा अथवा हिरण्य गर्भ नहीं प्रत्युत् उन्हें अपने संकल्प से ही जिसने उस वेद ज्ञान का दान किया है जिसके सम्बन्ध में विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। जैसे तेजोमयी सूर्य रश्मियों में जल का, जल में स्थल का और स्थल में जल का भ्रम होता है वैसे ही त्रिगुणमयी जाग्रत–स्वप्न सुषुप्ति रूपी सृष्टि मिथ्या होने पर भी अधिष्ठान (चेतन) सत्ता से सत्यवत् प्रतीत हो रही है उस अपनी स्वयं प्रकाश ज्योति से सर्वदा और सर्वथा माया कार्य से पूर्णतः युक्त रहने वाले परम सत्य रूप (चेतन) परमात्मा का ध्यान करते हैं।

यही परम सत्य एवं परम चैतन्य शक्ति मानव के कल्याणार्थ विविध रूपों में अवतरित हुई। पुराणों का अवतार वाद डार्बिन के जैवकीय विकास क्रम के अनुरूप है। पुराणों के अवतारवाद से सभी धर्म एवं सम्प्रदाय प्रभावित हुए। पुराणों में अवतारवाद के माध्यम से विविध धर्मों – बौद्ध, जैन, शैव–शाक्त आदि की मान्यताओं और शास्त्र एवं दर्शन को आत्मसात् करके उन्हें संतुलित ढंग से प्रस्तुत करने का सुमधुर प्रयास किया गया। पुराणों में विविध अवतार, देवी–देवता एक ही चैतन्य शक्ति के विविध रूप हैं।

पुराणों में विष्णु को षड्ऐश्वर्य ज्ञान, बल वीर्यादि से युक्त होने के कारण भागवत कहा है – वे सत्त्व, रज और तम तीनों गुण उसी माया के विलास हैं। इनके भीतर रहकर भगवान् इनसे युक्त सरीखे प्रतीत होते हैं वास्तव में तो वे परिपूर्ण विज्ञानानन्द घन हैं।

> तया विलसितेष्वेषु गुणेषु गुणवानिव। अन्तः प्रविष्ट आभाति विज्ञानेन विजृम्भितः।[62]

भागवत पुराण में नवधा भक्ति का कथन किया है तथा भक्ति को परम चैतन्य को प्राप्त करने का सहज साधन कहा है।

दर्शन शास्त्र का उद्देश्य; क्लेश बहुल प्रपंच से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमचैतन्यानन्द की उपलब्धि है अतः इसकी विशेषता साधना में है। इसी साधना के निर्धारण हेतु तत्त्व मीमांसा का पर्याप्त उपयोग है। सभी ने अपने–अपने प्रकार से उस चेतन तत्त्व का कथन किया है। इस जगत् को परमाणुओं का कार्य बतलाने वाले आरम्भवाद की दृष्टि नितान्त सूक्ष्म है। कारण में कार्य की सत्ता मानने वाले परिणामवाद की दृष्टि उससे सूक्ष्म है किन्तु विवर्तवाद इन तीनों में सूक्ष्मतम है। विवर्तवाद के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र चैतन्य और परमार्थभूत तत्त्व है और यह दृश्यमान जगत् उसी का अतात्त्विक विकार है। आत्मा के विषय में दर्शनों के विवेचन में स्पष्टतः पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है परन्तु प्रयोजन नहीं। जगद् सृष्टि के विषय में मूल चेतन तत्त्व एक ही है, केवल भिन्न–भिन्न नामों के ही प्रयोग से वह पृथक्–पृथक् प्रतीयमान है। नैयायिकों के मत में अदृष्ट, तान्त्रिकों की शक्ति, वेदान्तियों की माया और अविद्या तथा सांख्यों की प्रकृति एक ही मूल चेतन तत्त्व की विभिन्न संज्ञा मात्र हैं।

भारतीय षड् दर्शनों में शक्ति जडात्मिका है किन्तु शाक्त दर्शनों में वह चैतन्यमयी स्वीकार की गयी है। ये शिव–शक्ति एक ही चेतन तत्त्व के दो स्थित (Potential) तथा क्रियात्मक (Kinetic) रूप हैं। मूल यथार्थ चेतन तत्त्व शिव शक्ति का सामरस्य है। स्थित्यात्मक भाव शिव है और क्रियात्मक भाव शक्ति। चैतन्य के दो भाव हैं जिनमें बर्हिमुख चैतन्य; शक्ति एवं अन्तर्मुख चैतन्य (जिसका अपर नाम) शिव है। अन्तर्मुख चैतन्य की पूर्णावस्था में कर्त्ता तथा विषय का भाव नहीं रहता किन्तु बर्हिमुखावस्था में विषय 'इदं अर्थात् यह जगत्' लक्षित होने लगता है। प्रथमतः आत्मा

के अंश रूप में तदनन्तर स्वतन्त्र रूप में। 'पर संवित्' में विद्यमान 'अहम्' और 'इदम्' इस क्रमिकोन्मेष से ही विश्व प्रपंच का उदय होता है किन्तु मूल चेतना तत्त्वातीत है क्योंकि वह शिव–शक्ति की साम्यावस्था है। यही अद्वैत चेतन है जिसको लोग भिन्न–भिन्न नामों से पुकारते हैं।

दर्शन के व्यावहारिक रूप धर्म में उपर्युक्त शिव–शक्ति की सामरस्य मूति को वैष्णवों ने 'युगल' कहा तथा बौद्धों ने 'युगनद्ध', वज्रयानी लोगों ने प्रज्ञोपाय तथा तान्त्रिकों ने इस स्वरूप को 'यामल' कहा।[63] यह मूर्ति स्वरूप दो होते हुए भी अद्वय सम अथवा एक है। वस्तुतः अद्वय का अभिप्राय है वह स्वरूप जो द्वैताद्वैत दोनों प्रकारों से भिन्न पृथक् तथा स्वतन्त्र रूप है –

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।

मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैत विवर्जितम्।।[64]

अर्थात् कुछ लोग उसे द्वैत तथा कुछ अद्वैत या एक मानते है किन्तु उस चेतन तत्त्व को नहीं समझते जो द्वैत और अद्वैत से परे है।

धर्म का लक्षण महर्षि कणाद के अनुसार निम्न है –

यतोऽभ्युदय निः श्रेयस सिद्धिः स धर्मः

अर्थात् जिससे लौकिक उन्नति तथा पार लौकिक कल्याण की सिद्धि हो, वही धर्म है। धर्म संसार की उन्नति की आकांक्षा रखता है पर उसके पास मोक्ष (परम चैतन्य में लय) भी उसका लक्ष्य है।

भारतवर्ष में धर्म तथा दर्शन का सामंजस्य रहा है। जिस प्रकार परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्त्व की सत्ता विद्यमान है उसी प्रकार इस मानव देह में एक अपरिवर्तनशील सत स्वरूप चैतन्य तत्त्व विद्यमान है। ब्रह्माण्ड की नियामक सत्ता ब्रह्म है तथा देह की नियामक सत्ता आत्मा है। ब्रह्म तथा आत्मा एक हैं। प्रत्येक प्राणी अपने भीतर अन्तर्यामी आत्मा के रूप में उसी चैतन्य सत्ता का अनुभव करता है।

दर्शन का आविर्भाव इसलिये हुआ कि वह त्रयताप संतप्त लोगों को शान्ति प्रदान कर सके। क्लेश बहुल संसार से मानव की निवृत्ति कर सके एवं सुन्दर तथा

सही मार्ग का निर्देश कर सके। दर्शनशास्त्र में प्रतिपादित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की प्रतिष्ठा है। दर्शन; सिद्धान्तों या विचारों का प्रतिपादन करता है और धर्म उनको आचरण में लाने का कथन करता है। अस्तु दर्शन सिद्धान्त प्रतिपादक है और धर्म आचार एवं व्यवहार का प्रवर्तक है। वस्तुतः दुःख की निवृत्ति के अन्वेषण से धर्म का उदय होता है तथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का एक मात्र उपाय दर्शन है। परमात्म दर्शन, परमेश्वर का दर्शन, ब्रह्मलाभ, स्व को पर में निमग्न कर देना यही उन्नत दर्शन है। दर्शन धर्म की पराकाष्ठा का नाम है। अतः आत्म दर्शन (आत्म चेतना) एक ओर दर्शन शास्त्र का चरम लक्ष्य है तो दूसरी ओर वह परम धर्म है।

जैन और बौद्ध धर्म हमारी प्राचीन भारतीय श्रमण संस्कृति के प्रतिफल हैं। श्री ऋषभदेव या आदिनाथ जी जैन धर्म के प्रथम प्रवर्तक तीर्थंकर है। ऋषभदेव जी ने जैन धर्म को 'निरग्रन्थ' भी कहा। जैन शब्द जिन से बना है। जिन शब्द का अभिप्राय है अपनी इन्द्रियों को जीतने वाला व्यक्ति। जो ग्रन्थि अथवा बन्धनों से निर् अर्थात् रहित है वह निरग्रन्थ है। इस प्रकार इस धर्म के जैन धर्म या निरग्रन्थ सम्प्रदाय ये दो नाम हुए। जैन धर्म के आदि आचार्य तीर्थंकर ऋषभदेव अथवा आदिनाथ के अनन्तर तेईस तीर्थंकर और हुए जिनमें अन्तिम थे वर्द्धमान महावीर।

वर्द्धमान महावीर ने द्वादशवर्ष पर्यन्त कठोर साधना की। तेरहवें वर्ष में उन्होंने शाल वृक्ष के नीचे पद्मासनस्थ समाधि में जब केवल ज्ञान को प्राप्त किया तब वे 'जिन' तथा 'अर्हन्त' कहलाने लगे। महावीर के उपदेशानुसार जीव चेतन हैं किन्तु अविद्या के कारण इसका जड पदार्थों से संयोग होता है। संयोग होने पर जीव में कषाय काम क्रोधादि उत्पन्न होते हैं तथा कार्मिक अणु उस जीव में प्रवेश करके बंधन पैदा करते हैं। उसको रोकने का उपाय है त्रिरत्न – सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दृष्टि और सम्यक् चरित्र।

जैन सम्प्रदाय के तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन करने से विदित होता है कि जैन तत्त्वज्ञान व्यापक होने के साथ ही निसर्ग (अनादि–अनन्त) सिद्धि तत्त्व है। जिसके संस्थापक महावीर आदि तीर्थंकर पुरुष हैं। ये तीर्थंकर उसके संस्थापक है, निर्मापक नहीं। जैन तत्त्व कहता हैं –

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।

अर्थात् श्री महावीर स्वामी से मेरा पक्षपात नहीं है और कपिल आदि अन्य ऋषियों से द्वेष भी नहीं है। जैन सम्प्रदाय (धर्म) में चेतना के ज्ञान हेतु साध्य, साधक और साधन इन तीन पक्षों पर प्रकाश डालना आवश्यक हैं

साध्य – जैन तत्त्व ने जीव की मुख्यतया दो अवस्थाएं मानी हैं – (1) संसारी अवस्था (2) मुक्तावस्था। अनादिकाल से कर्मवश यह जीव इस संसार में भ्रमण करता है। जब वह ध्यान बल से आठों कर्मों का नाश कर देता है, तब वह अन्तिम साध्य को प्राप्त करता है। इस अवस्था में जीव को अनादि–अनन्त गुणों की स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है, उसी अवस्था में वह पुनः सदा के लिए विद्यमान रहता है। उससे फिर संसार–अवस्था में कभी वापस नहीं आता। ऐसी आत्यन्तिक अवस्था को मोक्ष कहते हैं और यही जैन तत्त्व का सर्वोत्कृष्ट अन्तिम साध्य है। मुक्त जीव का लक्षण यह है –

अट्टविहकम्म वियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।

अट्ठागुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।।[65]

यहाँ मुक्त जीव के सात विशेषण हैं –

(1) अष्टविध कर्म विफल

घातिया – ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय

अघातिया – वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र

(2) शीतीभूता या सुखस्वरूप

(3) निरंजना –मुक्त जीव को वापस लौटने में कोई निमित्त ही नहीं रहता।

(4) नित्याः –यह बौद्ध धर्म के क्षणिक सिद्धान्त का निराकरण करता है।

(5) अष्टगुणाः –अष्ट कर्मों के अभाव से ज्ञानादि आठगुणों का आविर्भाव होता है।

(6) कृतकृत्य –ईश्वरवादी परमात्मा को जगत् का कर्त्ता मानते हैं। उनके मत के निराकरणार्थ कृतकृत्य विशेषण है।

(7) लोकाग्रस्थिताः – अन्य धर्मों में जीव को सदा के लिए ऊर्ध्वगमन वाला मानते हैं, उसके निराकरणार्थ लोकाग्रस्थिताः यह विशेषण है।

लोकाकाश के अग्रभाग पर सिद्धशिला विद्यमान है। वहाँ पर मुक्त जीव सदा विराजमान रहते है। सिद्ध होने का क्षेत्र कर्मभूमि ही होने से जम्बू द्वीप लवणोद समुद्र, धातकीखण्ड – कालोद समुद्र और पुष्कार्ध द्वीप – इन ढाई द्वीपों में से ही जीव सिद्ध होते हैं। सिद्ध शिक्षा का क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन है। मुक्त जीवों का अमूर्त आकार होने से एक ही स्थान से सिद्ध होने वाले जीव परस्पर एक क्षेत्रावगाह रूप होकर रहते हैं। सिद्ध जीव जिस आकाश प्रदेश से उनकी मुक्ति होती है, उसी प्रदेश पंक्ति से सीधे ऊर्ध्व गमन कर लोकाकाश के अग्रभाग में स्थित सिद्ध शिला पर विराजमान होते हैं।

साधक – जैन धर्म ने प्रथमतः पूर्ण त्याग का ही उपदेश दिया है और उसके बाद पूर्ण त्याग की शक्ति न हो तो आंशिक त्याग रूप गृहस्थ धर्म का उपदेश दिया है। साधक या उपासक तीन प्रकार के माने गये हैं (1) पाक्षिक (2) नैष्ठिक (3) साधक

(1) त्याग या व्रत के ग्रहण करने का जिसका संकल्प है। वह धन्य दिन कब आयेगा, जब कि मैं व्रती बनूँगा, ऐसी जिसको लगन लगी है, वह भव्य जीव पाक्षिक कहलाता है।

(2) जो व्रतों का पालन करता है, वह नैष्ठिक है।

(3) जो आत्मध्यान में निमग्न रहता है, उसको साधक कहते हैं। गृहस्थ को अपना जीवन इस तरह बिताना चाहिये कि जिससे धर्म–अर्थ–काम इस त्रिवर्ग में विरोध न आवे। जिससे धर्म में दूषण लगे ऐसा अन्याय युक्त अर्थोपार्जन और पशुतुल्य काम सेवन नहीं करना चाहिये। गृहस्थ और यति दोनों का साध्य मोक्ष ही होने से मुमुक्षु कहलाते हैं। केवल बाह्य आचार को धर्म नहीं कहते लेकिन भावपूर्वक आचरण को ही धर्म कहते हैं। भावपूर्वक पंचपाप त्यागरूप धर्म का पालन करने वाला 'सच्चा साधक' कहलाता है।

साधन – उपरिनिर्दिष्ट उच्चतम साध्य का साधन सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों की पूर्णता बतलाई है। आत्म स्वरूप के प्रति समीचीन श्रद्धा, आत्म स्वरूप का समीचीन ज्ञान और आत्म स्वरूप (चैतन्य स्वरूप) में आत्मा का लय होने से ही आत्मा को 'निज तत्त्व' प्राप्ति होती है। निज को निज और पर को पर समझना ही सम्यग्दर्शन है। आत्मज्ञान रहित तप, त्याग और धर्म सब निरर्थक है।

परमात्मा का ईश्वर जैसा चेतन तत्त्व जैन धर्म में नहीं माना गया किन्तु जीव (आत्मा) को चेतन माना गया है और जीव बहुत्व को स्वीकार किया गया है फिर प्रश्न उठता है कि परमात्मा का क्या अर्थ है। जैन धर्म में बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा इन दो पदों पर ध्यान देना अपेक्षित है। बहिरात्मा; आत्मा के शरीर तथा इन्द्रियों से बाहर होने की अवस्था है तथा इसकी अन्तर्मुखी अवस्था अन्तरात्मा है। पूर्ण ज्ञानावस्था में यही आत्मा परमात्मा है। जैन धर्म में अहिंसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर जैन धर्म के दो सम्प्रदाय हैं।

वर्द्धमान महावीर ने जिस तत्त्व ज्ञान को स्पष्ट किया उसे संक्षेप में इस प्रकार देखा जा सकता है – जीव और अजीव अर्थात् चेतन और जड, ये दो विश्व के मूल तत्त्व हैं जो आदितः परस्पर सम्बद्ध पाये जाते हैं और चेतन की मन–वचन व कार्यात्मक क्रियाओं द्वारा इस जड़–चेतन की परम्परा प्रचलित रहती है, इसे ही कर्माश्रय या कर्मबन्ध कहते हैं। धर्मों, नियमों आदि के पालन द्वारा इस कर्माश्रय की परम्परा को रोका जा सकता है। समया (आत्मा) के तपादि द्वारा पुराने कर्मबन्ध ध्वस्त हो सकते हैं इस प्रकार चेतन का जड़ से सर्वथा मुक्त होकर अपना अनन्त ज्ञान तथा दर्शनात्मक स्वरूप प्राप्त कर लेना ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिये जिससे जन्म–मरण के चक्र का नाश होकर मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति हो सके।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान् बुद्ध का जन्म प्राचीन कोसल जनपद के कपिलवस्तु नामक नगर में शाक्य शुद्धोदन की भार्या मायादेवी के गर्भ से 505 वि.पू. वैशाखी पूर्णिमा को लुम्बिनी नामक उद्यान में हुआ था। इनका नाम सिद्धार्थ रखा गया। जन्म के सातवें दिन माँ के देहान्त के पश्चात् प्रजापति गौतमी ने इनका पालन–पोषण किया। सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा से हुआ। इनका एक पुत्र हुआ जिसका नाम राहुल था। संसार की निःसारता को देख ये उन्तीस वर्ष की आयु में ही अपना घर–राजपाट छोड़कर सांसारिक दुःखों के निवारण के उपाय ढूँढ़ने हेतु श्रमण हो गये।

कठोर तप से उन्होंने अपना शरीर गला डाला। आध्यात्मिक उन्नति में इस मार्ग को व्यर्थ मानते हुए उन्होंने बुद्ध गया के निकट 'उरुवेल' नामक ग्राम में चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार किया और 'बुद्ध' नाम से प्रसिद्ध हुए। यह घटना वैशाख

पूर्णिमा 471 वि.पू. की है। इसके अनन्तर आषाढ़ी पूर्णिमा को इन्होंने काशी के समीप सारनाथ में पंचवर्गीय भिक्षुओं के समक्ष पहला उपदेश देकर धर्मचक्र प्रवर्तन किया। अपने नगर के गणराज्य के आदर्श पर इन्होंने भिक्षुओं के लिए 'संघ' बनवाये तथा 'विनय' तथा 'धर्म' के उपदेश किये। मगध के राजा बिम्बसार तथा अजात शत्रु ने इनके अहिंसापरक उपदेशों को अत्यन्त महत्त्व देते हुए धर्म प्रचार में सहयोग किया। 426 वि.पू. की वैशाखी पूर्णिमा को अस्सी वर्ष की आयु में 'कुशी नगर' में भगवान् बुद्ध का निर्वाण हुआ। जन्म, बोधिप्राप्ति तथा निर्वाण प्राप्ति इन तीनों घटनाओं के कारण वैशाखी पूर्णिमा का बौद्ध धर्म में विशेष महत्त्व है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश मागधी या पाली भाषा में हुआ करते थे। पाली भाषा में बुद्ध के उपदेशों के संग्रह स्वरूप तीन पिटक प्राप्त होते हैं – सुत्तपिटक, विनय पिटक एवं अभिधम्मपिटक। इनमें आचार तथा दार्शनिक विषय वर्णित हैं।

बुद्ध की शिक्षाएं दो प्रकार की थीं –

(1) सामान्य धर्म के रूप में।

(2) संघभुक्त भिक्षु तथा भिक्षुणियों के नियम के विषय में। प्रथम उपदेश को धर्म या सुत्त (सूत्र) कहते हैं तथा दूसरे उपदेश को 'विनय' कहते हैं।

अभिधम्मपिटक बुद्धधर्म का विशुद्ध दार्शनिक पिटक है। सम्राट अशोक के समय तक पिटकत्रय निर्मित हो चुके थे।

महात्मा गौतम बुद्ध ने संसार को दुःखमय मानकर 'दुःख निरोध' को सबका अन्तिम ध्येय निश्चित किया और इसीलिये सभी संस्कारों का शमन, चित्त मलों का त्याग एवं तृष्णा का क्षय परमावश्यक बतलाया। इस निरोध या विरागमयी पूर्ण शान्ति की अवस्था को ही 'निर्वाण' का नाम दिया गया जिसकी उपलब्धि चित्त को सर्वप्रथम वस्तु स्थिति का अनुभव प्राप्त करने योग्य और पूर्णरूपेण चिन्तनशील बनाने पर अवलम्बित रहती है। वस्तु स्थिति के ज्ञान का अभिप्राय पहले उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रसिद्ध मध्यम या अष्टांगिक मार्ग के रहस्य को हृदयंगम करना था जो क्रमशः एक या अनिर्वचनीय 'धर्म' के रूप में समझा जाने लगा और जिसे आगे चलकर किसी न किसी प्रकार शून्य, धर्मतथता या भूततथता के नाम दिये गये। यही धर्म अथवा शून्य, बौद्ध सिद्धों का वोहि (बोधि), जिन रअण (जिनरत्न), सहज, महासुह (महासुख), धाम,

अणुन्तर (अनुत्तर) या जिनउर (जिनपुर) हैं जिसको साधना द्वारा प्राप्त कर लेना परमार्थ या परम पुरुषार्थ समझा जाता है।[66] निर्वाण शब्द वास्तव में निषेधार्थक नहीं और न शून्य शब्द ही निषेध वाची है। दोनों का तात्पर्य एक ही स्थिति या वस्तु स्थिति के पारमार्थिक रूप से है – जो न तो सत् है, न असत् ही है, परन्तु जो सभी के लिए परम लक्ष्य है।

महात्मा गौतम बुद्ध ने **संज्ञा या चेतना** को ही चित्त, मन या विज्ञान माना था और इसी चित्त को हम अनेक अबौद्ध दर्शनों की शब्दावली के अनुसार आत्मा की भी संज्ञा दे सकते हैं। यह चित्त स्वभावतः शुद्ध और मल रहित है किन्तु इसी के अन्तर्गत यह मूल बीज भी वर्तमान है जिससे भव एवं निर्वाण दोनों का विस्फुरण हुआ और इसीलिए जिनके बद्ध हो जाने से बन्धन और मुक्त होने से परम मोक्ष का लाभ होता है।[67]

चित्त का स्वभाव चंचल है। सरहपा के अनुसार चित्त जब रागादि से मुक्त हो जाता है तो 'स्थिर' हो जाता है। इसीलिये मूल तत्त्व को 'खसम' (ख=आकाश, सम=समान) अथवा शून्य मानते हुए अपने मन को भी तदनुसार खसम स्वभाव या **शून्य में चेतना का लय कर देना** आवश्यक है जिससे वह अमन (अपना चंचल स्वभाव छोड़कर अमनस्क सा) हो जाय और उसे सहजावस्था की उपलब्धि सरलतापूर्वक हो सके। सिद्ध तेलोपो का कथन है –

चित्त खसम जहि समसुह पइटठ्इ।
इन्दीअ–बिसअ तहि मत्तण दीसइ।।
आइ रहिअ एहु अंत रहि अ।
वरगुरु पाअ अद्दअ कहि अ।।[68]

अर्थात जिस समय चित्त (चेतना) खसम (शून्य रूप) होकर सममुख में प्रवेश करता है, उस समय किसी भी इन्द्रिय के विषय अनुभव में नहीं आ पाते। यह सममुख आदि एवं अन्त दोनों से रहित होता है और आचार्य इसे ही अद्वय नाम देते हैं। इस 'अमन' क्रिया का ही नामान्तर मन का मार डालना अथवा मनः का निःस्वभावीकरण है।

अभ्यास में अन्तश्चेतना को शून्य तक पहुँचाने वाली स्थिति को सिद्ध शान्तिपा ने रूई धुनने के उदाहरण से समझाया है कि रूई को धुनते–धुनते उसे सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश निकालते चलो, अन्त में अंश–अंश विश्लेषण करने पर (शून्य) कुछ नहीं रहता।

तुला घुणि–घुणि आँसुरे आँसु।

आँसु घुणि–घुणि विखर सेसु।।

x x x x x

तुला घुणि–घुणि सुणे अहारिउ।।[69]

बौद्ध सिद्धों ने अपनी साधना को 'सहज एवं महासुह' का नाम देकर इसे अत्यन्त सरल और सीधा बताया। काण्हपा के अनुसार शरीर के भीतर पाये जाने वाले उक्त सहज या महासुख का उत्पत्ति स्थान इडा एवं पिंगला नामक दो प्रसिद्ध नाडियों के संयोग के निकट विद्यमान है। बायीं नासिका की ललना नामक (प्रज्ञा स्वरूप) चन्द्रनाड़ी और दाहिनी नासिका की रसना नामक (उपाय स्वरूप) सूर्यनाडी उस महासुख कमल के दो खण्ड स्वरूप हैं। उसका रूप हंकार अथवा **अनाहद शब्द (चैतन्य शब्द)** है। इस महासुख कमल के मकरन्द का पान योगी या साधक लोग साधना द्वारा शरीर के भीतर ही करते हैं। इस प्रकार बौद्ध धर्म में योग की भाँति धर्मसाधना द्वारा महासुखमय चेतन तत्त्व (आनन्द प्राप्ति) के विषय में कहा है।

सन्तमत

सन्तों ने लोकमंगल की भावना से जीवन को संयमित एवं मर्यादित करते हुए जन–जीवन को सद् विचारों एवं लोक–कल्याण के लिए प्रवृत्त किया। आत्मदर्शी महामानव ही सन्त की गरिमा को धारण करते हैं। स्वानुभूति एवं सदाचरण सन्त–जीवन के मुख्य पीठाधार हैं। सन्त टेकमनराम का कथन है –

भजन करे से बेटा हमारा, ज्ञान पढ़े सो नाती।

रहनी रहै से गुरु हमारा, हम रहनी के साथी।।

सन्त शब्द में संस्कृत की अस् धातु (सत्तार्थक) विद्यमान है। अस् धातु (के सत शब्द) से पुल्लिंग, बहुवचन में सन्त शब्द बनता है। हिन्दी भाषा में सन्त शब्द का प्रयोग पुल्लिंग एक वचन में प्रचलित है। इस प्रकार जिसे 'सत्' की अनुभूति हो चुकी

है वही सन्त है। संत शब्द का प्रयोग शान्त अर्थ में भी प्राप्त होता है। शान्त अर्थात् जिसकी समस्त कामनाएं शान्त हो चुकी है।

अधिगच्छे पदं संतं सङ्खारुपसमंसुखं[70]

परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार "संत शब्द इस विचार से उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने सत रूपी परम तत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्त्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो। जो सत्य स्वरूप नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका है अथवा अपरोक्ष की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया है, वही सन्त है।[71] हिन्दी साहित्य (मध्यकालीन) में सन्त शब्द निर्गुण संतों के लिए प्रचलित हो गया। संतों की विशाल परम्परा ने जनमानस को बौद्धिक और आध्यात्मिक बहुमूल्य रत्न प्रदान किये हैं। सन्त कबीरदास निर्गुण काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि रहे हैं। कबीरदास ने अपनी बानियों में अपने से पूर्व सनक सनन्दन एवं जैदेव का नाम लिया है –

सनक सनन्दन जैदेव नामा, भगति करी मन उनहूंन जाना।[72]

पीपा, रविदास, गुरुनानक देव आदि संत कबीर के समकालीन संत है तथा दादूदयाल, गरीबदास, रज्जव, सुन्दरदास, मलूकदास, धरनीदास, गुलाब साहब, दरिया साहब, चरणदास, सहजोबाई, दयाबाई, तुलसी साहब तथा राधास्वामी मत के सन्त; संत कबीर साहब के परवर्ती हैं।

भारतीय संस्कृति की वैदिक काल से सतत् प्रवहमान परम्परा को इस देश के महान् सन्तों ने युगानुरुप अपने आचार – विचार एवं उपदेशों से परिपुष्ट कर समाज का पथ–प्रदर्शन किया है। सन्तों ने समाज को दुर्बल बनाने वाले सभी प्रकार के आडम्बरों एवं कर्मकाण्डों का बहिष्कार किया। धर्म, अर्थ, कर्म, जाति, प्रदेश, रूप–रंग आदि किसी भी आधार पर इन्होंने मानव हृदय में भेद को स्वीकार नहीं किया तथा युग–युग से उपेक्षित अन्त्यज वर्ग में स्वाभिमान की भावना जागृत की।

धार्मिक पाखण्ड की अपेक्षा एक परम चैतन्य शक्ति, जो इस सृष्टि का मूल है तथा सर्वत्र एवं सभी मानवों में व्याप्त है, की ही उपासना पर इन्होंने बल दिया। इस हेतु इन्होंने वर्गभेद एवं जातिभेद का तिरस्कार किया। संकीर्ण स्वार्थयुक्त मानसिकता को जनहित में परिणत करने वाले सन्तों ने सामाजिक चेतना को अपनी वाणी से

जागृत किया। इन्होंने विविध धर्मों के विविध ग्राह्य एवं अग्राह्य पक्षों एवं साधना दोनों का आदर्श रूप समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया। सन्तों के उपदेश व्यक्तिगत अनुभव के ही आधार पर थे इस हेतु उन्होंने किसी संगठन को घटित नहीं किया। इनका उद्देश्य ख्याति प्राप्त करना भी नहीं था।

प्रायः सभी सन्तों ने 'गुरु' बनाने पर बल दिया। अमूल्य मानवदेह का उद्देश्य धार्मिक – मतमतान्तरों के भाव से रहित होकर चेतन ब्रह्म (तत्त्व) की साधना माना। **सन्तों की दृष्टि में लौकेषणा वित्तैषणा या पुत्रैषणा नगण्य थी। एक मात्र चेतन ब्रह्मैषणा से विभोर थे सन्त।** अतः आडम्बर विहीन धर्म रूपी साधन से चैतन्य ब्रह्म या चैतन्य तत्त्व का साक्षात्कार ही उनके जीवन का लक्ष्य था।

जैसा कि पूर्व में आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के मत को उद्घृत करते हुए कहा गया कि संत वह है जिसने 'संत' रूपी परम तत्त्व का अनुभव कर लिया है। वस्तुतः सन्तों की पहुँच ब्रह्माण्ड और पारब्रह्म पद के परे सत लोक (चौथा लोक) और उसके भी आगे धामों तक है।

सूरति संत करै कोई सैला। चौथा पद सतनाम दुहेला[73]

राधास्वामी मत के प्रथम अवतार परम संत श्री शिवदयाल सिंह जी (स्वामी जी महाराज) के अनुसार सन्त लोक से ही नीचे के लोकों का विस्तार हुआ है – "..... सत्त लोक की कला से तीन लोक और सब विस्तार हुआ।[74] सत्तलोक महाप्रकाशवान और पाक और निर्मल है और महज़ (सिर्फ) रूहानी या चैतन्य ही चैतन्य है और कुल नीचे की रचना का आदि और अन्त यही है।[75]

वैष्णव मत के अनुसार भगवान् की दो विभूतियाँ हैं – एक पाद् विभूति तथा त्रिपाद् विभूति इस विभूति द्वय का संकेत ऋग्वेद के प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में उपलब्ध होता है जिसमें पुरुष के त्रिपाद् के ऊर्ध्वगमन तथा एक पाद् के अधोऽवस्थान का स्पष्ट उल्लेख है।

त्रिपाद् दूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहा भवत् पुनः।[76]

त्रिपाद् विभूति के ही अन्तर्गत विष्णु के परमपद की स्थिति है। एक पाद लीला विभूति है और त्रिपाद् नित्यविभूति। ऋग्वेद के सूक्तों में उनके एक विलक्षण कार्य "तीन पद क्रमों में विश्व को माप डालने की ओर बार – बार ध्यान आकृष्ट कराया

गया है। उन्होंने इस दीर्घ, विस्तृत विश्व (सधस्थ – सध सह तिष्ठन्ति जना यत्र) को अकेले ही बिना किसी की सहायता से तीन पदों (पग या डग) के द्वारा नाप लिया।

य इदं दीर्घ प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिमिरित् पदेभिः।[77]

इसी कारण विष्णु को वेद में उरुगाय, उरुक्रम कहा तथा पुराणों में त्रिविक्रम तीन डग भरने वाला कहा।

त्रीणिपदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः अतो धर्माणि धारयन्[78]

इस प्रकार यहाँ तीन लोकों तक की चैतन्य गति (शक्ति) का कथन है। उसके आगे भी कोई चैतन्य शक्ति है जिसके लिए श्रुतियों ने नेति–नेति कहा। संतमत तीन के ऊपर अर्थात् चौथे लोक से आरम्भ होता है जिसका सर्वप्रथम कथन संत कबीर साहब, गुरुनानक देव एवं सन्त तुलसी साहब तथा राधास्वामी मत के परमाचार्यों ने किया।

यद्यपि भक्ति सम्बन्धी काव्य की रचना करने वाले सभी कवियों को सन्त कहा जा सकता है तथापि सन्त काव्य उन्हीं कवियों की बानियों का नाम है जिन्होंने निर्गुण सम्प्रदाय के अन्तर्गत काव्य रचना की है (अनुशीलन, डा. रामकुमार वर्मा प्रथम संस्करण पृ. 88) प्रायः निर्गुणियों को सन्त और सगुणियों को भक्त कहने की एक परम्परा प्रचलित हो गई है।

पूर्व में सामान्य धर्म एवं विशेष धर्म का कथन किया गया। प्रत्येक धर्म में कुछ ऐसे उदात्त तत्त्व होते हैं जो सामान्य अथवा सर्वमान्य होते हैं जिनके विषय में मतवैभिन्य नहीं होता। धर्म का ऐसा सामान्य अतः सर्वमान्य रूप व्यक्ति एवं समाज दोनों के लिए कल्याणकारी होता है। वैदिक काल से लेकर सन्तमत तक ऐसे धर्म को मान्यता मिली। सन्तों ने अपने जीवन में धर्म के इन कल्याणकारी तत्त्वों को स्वीकार करते हुए समाज को भी इस ओर प्रेरित किया। सन्तों ने जीव–चेतना जागरण हेतु निम्न प्रमुख तथ्यों पर बल दिया जैसे –

चित्त शुद्धि एवं आत्मपरिष्कार, शम, दम मनोविकारों का त्याग, सदाचरण, संचय की प्रवृत्ति का अभाव (अपरिग्रह) सन्तोष, निष्काम कर्म, वासना का परित्याग, स्वानुभूति तथा आत्म–चिन्तन पर बल, कथनी करनी में साम्य, भक्ति, प्रीति–प्रतीति, प्रपत्ति (समर्पण), सहज प्रेम, ईश्वर की शरण में आना नामस्मरण वक्त गुरु का महत्त्व,

सत्संगति, बाह्य धार्मिक आडम्बरों का विरोध, अवतारवाद, बहुदेववाद एवं मूर्तिपूजा का खण्डन, तथा पन्थवाद तथा पुस्तकीय ज्ञान का विरोध आदि।

सन्तों ने आत्मोत्थान हेतु सभी धर्मों के आडम्बरमय रूप का खण्डन किया और ग्रहण करने योग्य सार तत्त्व को उदारता से ग्रहण किया उनकी दृष्टि में वास्तविक धर्म वही है जो सभी प्रकार की संकीर्णताओं से रहित, साम्यमूलक तथा सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, अपरिग्रह और परोपकारादि नैतिक तत्त्वों से युक्त हो। ऐसे मानव धर्म की स्थापना हेतु उन्होंने अपने से पूर्व–प्रचलित बौद्धों, शैवों, नाथों, वज्रयानियों, सिद्धों, वैष्णवों और शाक्तों के प्रचलित सिद्धान्तों और मान्यताओं का खण्डन कर सहजयोग अर्थात् सुरत शब्द योग को माना।

सन्तों ने योग साधना को मुख्य साधना के रूप में नहीं माना अपितु उनकी यह योग साधना भक्ति की उपकारक थी। भक्ति, प्रपत्ति (समर्पण) शरणागत वत्सलता रूप साधन जीव चेतना में परमोपकारक हैं। वस्तुतः सन्तों के अध्यात्म विषयक ये विचार स्वानुभूति जन्य हैं जिन्हें उन्होंने सामान्य प्राणी तक पहुँचाते हुए जीव–चेतना का सरल–सहज एवं सरस मार्ग प्रस्तुत किया।

इस प्रकार धर्म नित्यचेतन, सर्वदा स्थाई और देश–काल की सीमा का अतिक्रमण करने वाला है। ऐसे धर्म के स्वरूप ज्ञान के लिए किसी विशेषण या किसी नियामक शब्द की आवश्यकता नहीं क्योंकि वह अखण्ड चेतन सत्तात्मक नित्य पदार्थ है। धर्म की नित्य चेतनसत्ता को सूचित करने के लिए ही महाभारत के शान्ति पर्व में 'एष धर्म सनातनः– वाक्य बार–बार प्रयुक्त हुआ है। धर्म की नित्य चेतन सत्ता के ही कारण धर्म नित्य तथा सर्वदा जीवित रहता है। प्रतिदिन सूर्योदय–सूर्यास्त क्रम, निशा का आविर्भाव–तिरोभावादि क्रम इस विश्व में एक मूल चेतन तत्त्व की ओर संकेत करते हैं। इसी को वेदों में ऋत, मीमांसकों ने अपूर्व और न्याय में अदृष्ट आदि कहा। धर्म की नित्य चेतना सत्ता से अवगत होने पर यह प्रश्न ही नहीं उठता कि धर्म जीवित है क्या? धर्म नित्य है वह सर्वदा जीवित है। धर्मनाश से ब्रह्माण्ड नाश है। ब्रह्माण्ड को अपनी धुरी पर रखने वाला एक मात्र चेतन तत्त्व धर्म ही है।

सभी धर्मों का एक मात्र लक्ष्य अपने–अपने धर्माचार्यों की सनातन परम्परा से प्रवर्तित विविध धर्मसाधनों द्वारा साध्य एकमात्र विभु व्यापक, दिव्य, अखण्ड, अनामी चेतन सत्ता की प्राप्ति एवं उसमे ंलय करना है। जब परम चैतन्य शक्ति ऋषि,

महात्मा, पीर–पैगम्बर अवतार एवं महान् सन्तों में अवस्थित है तो आपस में कैसी साम्प्रदायिकता, कैसा वैमनस्य और कैसा छोटा बड़ापन। सभी युगों में इस सत, ऋत, अदृष्ट अलौकिक चेतना सम्पन्न अवतारों ने समाज का मार्ग प्रशस्त किया तथा सुकृत्यों में प्रवृत्ति एवं दुष्कृत्यों से निवृत्ति हेतु सदुपदेश एवं प्रवचन किये। चेतना एक; धर्म अनेक, आज यह हमारे समाज का आदर्श वाक्य (नारा) होना चाहिये तभी सभी धर्मानुयायियों में **जीओ और जीने दो** की भावना तथा **सर्वेभवन्तु सुखिनः, सर्वेसन्तु निरामयाः, सर्वेभद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्** की भावना और अधिक प्रबल, परिष्कृत और पुष्ट होगी।

(ख) अनुराग सागर एवं निज चेतना

परम चेतना के भण्डार, परम शक्ति स्वरूप परम पुरुष सृष्टि पूर्व में अनामी थे। परम पुरुष शून्य समाधि में थे। तब न धरती थी न आकाश न कुछ अन्य अर्थात सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही नहीं था अथवा यह कह सकते है कि परम चेतना अपने गुप्त (Potential Form) रूप में थी, कार्यशील रूप (Kinetic Form) में नही थी। सर्वप्रथम परम चेतना के भण्डार परम पुरुष में सृष्टि रचना की इच्छा हुई। तब एक परम चेतन शब्द प्रकट हुआ जिससे सतलोक तथा उससे नीचे के लोकों की रचना हुई। सर्वप्रथम सतपुरुष ने सोलह सुत अर्थात् षोडश कलाएं अथवा षोडश शक्ति रूप षोडश पुत्र उत्पन्न किये जिनमें निरंजन भी एक कला–सुत था। काल ने सत्तर– सत्तर युग पर्यन्त सतपुरुष की भक्ति की और सतपुरुष से अलग रचना करने का अधिकार माँग लिया। पुनः काल ने चौसठ युग तक भक्ति करके जीवात्माओं अथवा रूहों के भण्डार को माँग लिया। काल निरंजन ने अष्टंगी के साथ मिलकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश को जन्म दिया तथा इनको भौतिक सृष्टि का और उसके संचालन का उत्तरदायित्व सोंपा। इसके बाद काल–निरंजन स्वयं सतपुरुष के ध्यान में मग्न हो गया।

काल–जाल में फँसे जीवों को देखकर सतपुरुष को दया आई अतः सोलह सुतों में से ज्ञानी जी (सन्त कबीर साहब) से उन्होंने कहा कि जीवों को काल–जाल से निकालकर उनकी चेतना को जाग्रत कर, उन्हें मुक्त कराओ।

सतपुरुष की निज चेतना चार युगों में कबीर साहब के चार जन्मों के रूप में; जीवों के कल्याणार्थ प्रकट हुई। सतयुग में उनका नाम सत्सुकृत हुआ, त्रेता युग में वे

मुनीन्द्र नाम से जीवों के कल्याणार्थ अवतरित हुए, द्वापर में उनका अवतार करुणामय नाम से तथा कलियुग में वे सन्त कबीर के रूप में अवतरित हुए।

परम–पुरुष ने कबीर साहब को बुलाकर जीवों को चिताने हेतु दर्शन देने को कहा। कबीर साहब परम पुरुष के चरणों में शीश नवाकर हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा मानकर चल पड़े। उनके सिर पर परम–पुरुष का प्रताप था।

आज्ञा लीन्हा मान, पुरुष सिखापन सीस धरि।
ताक्षण कीन्ह पयान, सीसनाय सत पुरुष कहाँ।।[79]

जब कबीर साहब ने वहाँ से प्रस्थान किया तब मार्ग में धर्मराज उन्हें मिला और उनसे झगड़ा करने लगा और कहने लगा कि योगजीत तुम यहाँ कैसे आये। क्या तुम हमें मारने आये हो। यदि आप पुरुष की आज्ञा से आये हो तो वह पुरुष बचन भी मुझे सुनाओ –

आवत मिल्यो धर्म अन्याई। तिन पुनि हमसों रार बढ़ाई।
मो कहँ देखि धर्म ढिंग आवा। महाक्रोध बोले अतुरावा।।
योगजीत इहवाँ कस आवो। सो तुम हमसो वचन सुनावो।।
के तुम हमको मारन आओ। पुरुष वचन सो मोहि सुनायो।।[80]

धर्मराज के प्रश्न करने पर कबीर साहब ने कहा – हे धर्मराज मैं तो जीवों के कल्याणार्थ संसार को प्रस्थान कर रहा हूँ। तुम जीवों को बहुत कष्ट दे रहे हो। तुमने परम–पुरुष का भेद (रहस्य या पता) तो गुप्त कर (छुपा दिया) दिया है और अपनी महिमा को प्रकट कर रहे हो। तुम जीवों को गर्म शिला (पत्थर) पर जलाने जैसे अनेक कष्टों से संतप्त कर रहे हो। तुम्हारे द्वारा जीवों को इस प्रकार दिये जा रहे कष्टों को देखकर ही पुरुष ने मुझे यह आज्ञा दी है कि मैं जीवों को चैतन्य कर उन्हें कष्टों से बचाऊँ तथा नाम–दान (परवाना) कर उन्हें ऊर्ध्व लोकों में ले जा सकूँ।

जीवन कह तुम बहुत भुलावा। बार बार जीवन संतापा।
पुरुष भेद तुम गोपित राखा। आपन महिमा परगट भाखा।।
तप्त शिला पर जीव जरावहु। जारि बारि निज स्वाद करावहु।।
तुम अस कष्ट जीव कह दीन्हा। तबहि पुरुष मोहि आज्ञा कीन्हा।।
जीव चिताय लोक लै जाऊं। काल कष्ट से जीव बचाऊं।।
ताते हम संसारहि जायब। दे परवाना लोक पठायब।।[81]

यह सुनकर काल अपना भयंकर रूप दिखाकर योगजीत को डराते हुए कहने लगा कि हे योगजीत ! मैंने सत्तर–सत्तर युग पुरुष की सेवा की और उसके बाद चौंसठ युग तक भक्ति करके परम शक्ति से वरदान लिया है। तुम मेरे देश में कैसे घुस सकते हो। यदि तुम मुझे यहाँ मारकर निकालने के लिये आये हो, तो मैं भी तुम्हें जीवित नहीं छोडूँगा। अब मुझे भली प्रकार समझ में आ गया है कि तुम्हें मारकर मुझे अपना बदला ले लेना चाहिये –

यह सुन काल भंयकर भयऊ। हम कहँ त्रास दिखावन लयऊ।।
सत्तर युग हम सेवा कीन्हीं। राज बड़ाइ पुरुष मुहिं दीन्हीं।।
फिर चौंसठ युग सेवा ठयऊ। अष्टखंड पुरुष मुहिं दयऊ।।
तब तुम मारि निकारे मोही। योग–जीत नहिं छांडों तोही।।
अब हम जान भली विधिपावा। मारों तोहि लेउँ अब दावा।।[82]

जब काल इतना भयंकर होने लगा तब योग–जीत (कबीर साहब) कहने लगे कि – हे धर्मराज ! हमें तुम्हारा किसी भी प्रकार का डर नहीं है, हम तो परम पुरुष के तेज या प्रताप से ही यहाँ आये है और तुम मुझे डराते हो। उसी समय कबीर साहब ने परम–पुरुष का ध्यान किया और उन्होंने शब्द अंग से काल को निढ़ाल करते हुए तुरन्त उस पर अपनी दृष्टि डाली जिससे उसका माथा काला पड़ गया। जिस प्रकार पंख घायल हो जाने पर पक्षी शक्तिहीन हो जाता है उसी प्रकार योगजीत के सामने काल शक्तिहीन हो गया। शक्तिहीन काल उनके चरणों में गिर गया।

पुरुष प्रताप सुमिरि तिहि बारा। शब्द अंगते कालहि सारा।।
ततक्षण दृष्टि ताहि पर हेरा। श्याम ललाट भयो तिहि केरा।।
पंख घात जस होय पँखेरू। ऐसे काल मोहि पहँ हे रू।।
करे क्रोध कहु नाहिं बसाई। तब पुनि परेउ चरण तर आई।।[83]

निःशक्त काल दयनीय स्थिति को प्राप्त हो कबीर साहब के चरणों में गिरकर प्रार्थना करते हुए कहने लगा कि बन्धु समझकर ही मैंने तुमसे अपनत्व में विरोध किया। तुम तो परमशक्ति का रूप हो अतः मुझे क्षमा करिये। परम शक्ति की चेतना

से सर्वप्रथम सार शब्द उत्पन्न हुआ। तदनन्तर सोलत सुत। (कूर्म भगत, सहजभक्त, कबीर आदि) पैदा हुए। आप मुझसे बड़े हो, ज्ञानी पुरुष हो अतः मुझ पर कृपा करो।

पुरुष सम अब तोहि जानों नहिं दूजी भावना।
तुम बड़े सर्वज्ञ साहिब, क्षमा छत्र तनावना।।
तुमहूँ करो बखशीश, पुरुष दीन्ह जसराज मुहिं।
षोडशमहँ तुम ईश, ज्ञानी पुरुष एक सम।।[84]

पुनः ज्ञानी जी (कबीर साहब) बोले। तुम तो हम सोलह सुतों के वंश में अंजन अर्थात् काजल या काले या काल हो और मैं परम पुरुष की आज्ञा से सत्य शब्द – सतनाम को जीव में दृढ़ाकर, भौसागर से उन्हें मुक्त कराने आया हूँ। यदि मुझे पुरुष की आज्ञा न मिली होती तो मैं छिन में तेरा राज्य नष्ट कर देता।

कह ज्ञानी सुन राय निरंजन। तुम तो भये वंश में अंजन।
जीवन कहँ मैं आनब आई। सत्य शब्द सत नाम दृढ़ाई।।
X X X X
पुरुष आवाज टारु यहि बारा। छनमहँ तो कहँ देउऊ निकारा।।[85]

तब निरंजन बोला कि मैं तो तुम्हारा सेवक हूँ, अन्य कोई नहीं। आप ऐसी कृपा करिये जिससे मेरा आकाश, मर्त्य तथा पाताल लोक का खेल (राज्य) न बिगड़ जाय। परम शक्ति ने मुझे उपर्युक्त तीनों लोकों का राज्य दिया है। आप भी मुझ पर ऐसी कृपा करिये जिससे मेरा राज–काज विधिवत् चलता रहे।

धर्मराय अस बिनती ठानी। मैं सेवक द्वितीया नहिं जानी।
ज्ञानी विनती एक हमारा। सो न करहु जिहि मोर विगारा।
पुरुष दीन्ह जस मो कहँ राजू। तुमहूँ देहुतो होवे काजू।[86]

पुनः काल कहने लगा हे ज्ञानी (कबीर) जी मैंने आपकी आज्ञा मान ली है। आप जीवों (हंस जीवों) को अपनी इच्छा तथा युक्ति के अनुसार ले जाइये किन्तु मेरा संसार में इतना प्रभाव, कौतुक व आकर्षण है कि लोग आपकी बात मानने को तैयार ही नहीं होंगे, वे तो मेरी ओर ही खिंचेंगे। मेरे दृढ़ फन्दों में से कोई निकल ही नहीं सकता। मैंने वेद–शास्त्र, स्मृति पुराण में सबको उलझायाहुआ है। मैंने तीन पुत्र बुह्मा, विष्णु और शिव बनाये हैं। जिनका दुनिया में बहुत प्रताप है। सभी उन्हीं देवत्रय की पूजा करेंगे। आपकी ओर कौन ध्यान देगा। इसके अतिरिक्त तीर्थ, व्रत, जप, तप

नियम–आचार, अनुष्ठान तथा यज्ञ होमादि में प्रजा को उलझा रखा है अर्थात मेरे प्रपंच से कोई जीव नहीं निकल सकता फिर आपकी ओर कौन आकर्षित होगा।

अब हम वचन तुम्हारो मानी। लीजो हंसा हम सो ज्ञानी।
बिनती एक करों तुहि ताता। दृढ़ कर मानो हमरी बाता।।
दृढ़ फन्दा हैं रचा बनायी। जामें जीव रहे उरझाई।।
वेद शास्त्र सुमिरिति गुणनाना। पुत्री तीन देवन परधाना।।
X X X X
जज्ञ होम अरु नेम अचारा। और अनेक फन्द मैं डारा।।
जो ज्ञानी जैहो संसारा। जीव न माने कहा तुम्हारा।।[87]

कालनिरंजन की बात सुनकर ज्ञानी जी बोले – संसार में शब्द चेतना अर्थात परम शक्ति का शब्द स्वरूप हीं सर्वोपरि है। तुमने जितने यम–फन्दे डाल रखे हैं – सत शब्द से, सत शब्द उच्चारण से अथवा शब्द चेतना के प्रभाव से वे समस्त काल–जाल ध्वस्त हो जायेंगे।

जेतिक फन्द तुम रचे विचारी। सत्य शब्द ते सबै विडारी।।
जौन जीव हम शब्द दृढ़ावे। फंद तुम्हार सकल मुक्तावे।।
जब जीव चीन्ही है शब्द हमारा। तजहि भरम सब तोर पसारा।।
सत्य नाम जीवन समझायव। हंस उबार लोक ले जायब।।[88]

सतशब्द के सुमिरन तथा नाम दान (परवाना) द्वारा कबीर साहब जीवों को ऊपर ले गये। कबीर साहब नाम–दान के समय चौका आरती तथा नाम–चेतना का ज्ञान कराके, नामदान करके, जीवों को उनसे मिलने का ढंग बताते थे। जिसको नाम–दान हो जाता है अथवा जो नाम चेतना से चैतन्य हो जाता है, काल उसके पास फटक भी नहीं सकता था। काल पुरुष जीवों पर नाम की मुहर देखकर उनके सामने शीश झुका देता है, उन्हें रोकता नहीं हैं, आगे जाने देता है।

देहुँ सत्य शब्द दिढ़ाय हंसहि। दया शील क्षमाधनी।।
सहज शील सन्तोष पसारा। आत्म पूजा गुन धनी।।
पुरुष सुमिरन सार वीरा। नाम अविचल गाइहों।।
सीस तुम्हरे पाँव देके। हंसहि लोक पठाइहों।।

X X X X

चौका करी परवाना पाई। पुरुष नाम तिहि सेउँ चिन्हाई।।

ताके निकट काल नहिं आवे। संधि देख ताकहँ शिर नावे।।[89]

इसके बाद काल निरंजन ज्ञानी जी से प्रार्थना करते हुए कहने लगा कि – मुझे पुरुष का प्रतिदिन लाख जीवों को ग्रसित करने का शाप लगा है। यदि आप समस्त जीवों को ऊपर ले जायेंगे तो मेरी क्षुधापूर्ति किस प्रकार होगी। परमपुरुष ने दया करके भौसागर का राज्य मुझे दे दिया है। आप भी मुझ पर कृपा करिये। सतयुग, त्रेता और द्वापर में आप थोड़े से जीवों को ले जाइये तथा कलियुग में चाहे जितने जीवों को मुक्ति प्रदान करने के लिये ले जाइये। आप मुझे इस प्रकार का वचन देकर ही यहाँ से जाइयेगा।

दयावन्त तुम साहिब दाता। एतिक कृपा करो हो ताता।।

पुरुष शाप मोकहँ अस दीन्हा। लच्छ जीव नित ग्रासन कीन्हा।।

जो जिव सकल लोक तुव आवे। कैसे क्षुधा सो मोरि बतावे।।

X X X X

सतयुग त्रेता द्वापर माहीं। तीनहु युग जीव थोरे जाही।

चौथा युग जब कलियुग आवे। तब तव शरण जीव बहु जावे।।

ऐसा वचन हार मुहि दीजे। तब संसार गवन तुम कीजे।।[90]

काल ने इस प्रकार का प्रपंच रचा तथा विनम्रतापूर्वक ज्ञानी (कबीर) जी के साथ ठगी की। उसने ऐसा प्रपंच रचकर कबीर साहब से अपनी बात स्वीकार करा ली कि तीनों युगों में बहुत कम जीव लेकर जाना तथा चौथे युग में चाहे जितने जीव ले जाना। जब चौथा युग कलियुग आयेगा तब ज्ञानी जी अपने हंस, सन्त और महात्माओं को भेजेंगे जो जीव की चेतना को जाग्रत करके अर्थात् जीव को चिता कर उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

अरे काल परपंच पसारा। तीनो युग जीवन दुःख डारा।।

बिनती तोर लीन्ह मैं जानी। मो कहँ ठगा काल अभिमानी।।

जस बिनती तू मोसन कीन्ही। सो अब बसि तोहि कहँ दीन्ही।।

चौथा युग जब कलियुग आये। तब हम आपन अंश पठाये।।[91]

इस प्रकार परम पुरुष की आज्ञा से जीवों को भवबन्धन से मुक्त कराने के लिए कबीर जी जब नीचे आ रहे थे तब उनकी काल से कलह हुई किन्तु कबीर साहब के शब्द अंग (शब्द चेतना) के प्रभाव से काल का मस्तक काला पड़ गया और वह ज्ञानी (कबीर) जी के समक्ष गिड़गिड़ाता हुआ नतमस्तक होकर तीनों लोकों में अल्प जीवों को तथा चौथे कलियुग में अधिक जीवों को भवबन्धन से मुक्त कराके ले जाने के लिये प्रार्थना करने लगा।

कबीर साहब चौका, आरती के साथ नाम–दान करते थे तथा नाम के सुमिरन, ध्यानादि के द्वारा जीव को पुरुष से मिलाने अथवा जीव–चेतना का पुरुष चेतना में लय कराने का प्रयास करते थे। चारों युगों में कबीर साहब ने जिन चार स्वरूपों को धारण कर जीव चिताने का कार्य किया उसका वर्णन आगे अध्यायों में किया जायेगा।

इस प्रकार अनुराग सागर में निज चेतना अर्थात सत्तपुरुष के अंश ज्ञानी कबीर जी भू–मण्डल पर जीव कल्याणार्थ अवतरित हुए जिन्हें काल–निरंजन ने मार्ग में रोकने का प्रयास किया। यही निज चेतना चार युगों में अपने रूप चतुष्टय द्वारा जीव कल्याण में संलग्न हुई।

संदर्भ

1. Dictionary English and Sanskrit – S/R M. Monier Williams
2. प्रेम विलास शब्द 15, पृ.19
3. प्रेम प्रचारक 10 अक्टूबर 2005, पृ. 2
4. श्रीमद् भागवद्. – 3/3/20/50
5. कर्ण पर्व 49/50
6. तैत्तिरीयोपनिषद् 1–11
7. वैशेषिक सूत्र 1/1
8. मनु0 6/92
9. मानविकी पारिभाषिक कोश दर्शनखण्ड पृ0 50
10. रामप्रसाद त्रिपाठी हिन्दी विश्वकोश पृ0 282
11. रामचन्द्र वर्मा मानक हिन्दी कोश पृ0 274
12. मनु0 अ0 12
13. वृहदारण्यकोपनिषद् 4/5/6

14. रत्न सागर पृ0 166 दोहा

15. भर्तृहरि – नीतिशतकम् – श्लोक 1

16. कुमारसम्भव 3/58

17. कुमारसम्भव 2/50

18. रघु 8/24

19. ऐतरेय आरण्यक 3/2/3/12

20. निरुक्त 7/4/8, 9

21. अध्याय 1, श्लोक 61–65

22. ऋ. 3/55/5

23. कल्याण धर्मांक पृ0 89

24. ऋग्वेद 9/10/8/8

25. ऋग्वेद 1/105/15

26. ऋग्वेद 1/154/1

27. ऋग्वेद 1/154/15

28. शत0 1/7/3/5

29. शतपथ 4/3/4/3

30. शत0 ब्रा0 2/3/1/6

31. गोपथ ब्रा0, उत्तर0 4/6

32. शत0 3/1/3/18

33. गोपथ 2/10

34. ऐतरेय आरण्यक 2/1/6

35. प्रश्न0 2/7

36. प्रश्नो0 3/3, 4

37. प्रश्न0 3/6

38. कठोप0 2/2/3

39. माण्डूक्य 12

40. ऐतरेयोपनिषद् 3/12

41. मुण्डकोपनिषद् 1/1/6

42. मुण्डक 2/1/1

43. ऋ0 1/22/18

44. कठो0 1/2/15

45. यजु0 30/3

46. ऋ. 10/191/4

47. ऋ. 10/191/4

48. मनु. 12/85 पू.

49. श्रीमद् भगवद् गीता 18/64–66

50. याज्ञ. 1/8

51. श्रीमद् भाग. 6/3/19

52. शान्ति 108/11

53. शान्तिपर्व 174/2

54. शान्तिपर्व, अ. 293/8

55. श्रीमद् भगवद् गीता 2/47

56. श्रीमद् भगवद् गीता 4/9

57. म. आदिपर्व 2/391

58. शान्तिपर्व 62/32

59. श्रीमद् भागवत पुराण1/1/31

60. श्रीमद् भगवद् गीता 1/1/32

61. श्रीमद् भगवद् गीता 1/1/1

62. श्रीमद् भागवद् पुराण 1/2/31

63. भारतीय धर्म दर्शन, आचार्य बल्देव उपाध्याय, पृ. 393 के आधार पर

64. कुलार्णव तन्त्र 1/110

65. कल्याण साधनांक जैन सम्प्रदाय के साधन, ले. श्री नरेन्द्र जैन, पृ. 652–654 के आधार पर

66. बौद्धों सिद्धों की साधना कल्याण साधनांक पृ. 632

67. बौद्ध सिद्धों की साधना, कल्याण साधनांक पृ. 632

68. बौद्ध सिद्धों की साधना (पं. परशुराम चतुर्वेदी) से उद्घृत कल्याण साधनांक पृ. 632

69. बौद्ध सिद्धों की साधना (पं. परशुराम चतुर्वेदी) से उद्घृत कल्याण साधनांक पृ. 632
70. धम्मपद, भिक्खु वग्ग, गाथा 9
71. उत्तरी भारत की संत परम्परा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, तृतीय संस्करण, पृ.5
72. कबीर ग्रन्थावली, सम्पा. डॉ. श्यामसुन्दर दास, पद 33 पृ. 77
73. घटरामायन पृ. 72, चौपाई 53
74. सारबचन नसर अनु. 30 पृ. 81
75. सारबचन अनु. 30 पृ. 12
76. ऋग्वेद 10/90/4
77. ऋग्वेद 1/154/3
78. ऋग्वेद 1/22/18
79. अनुराग सागर, सोरठा 43, पृ. 56
80. अनुराग सागर पृ. 61
81. अनुराग सांगर, पृ. 61
82. अनुराग सागर, पृ. 61
83. अनुराग सागर, पृ. 62
84. अनुराग सागर, पृ. 62 छन्द 45, 48
85. अनुराग सागर, पृ. 62
86. अनुराग सागर, पृ. 62
87. अनुराग सांगर, पृ. 62–63
88. अनुराग सागर, पृ. 63
89. अनुराग सागर, पृ. 63
90. अनुराग सागर, पृ. 63–64
91. अनुराग सागर, पृ. 64